❊ अध्याय–1 ❊

◙ दर्शन : तत्त्व एवं मीमांसा

❊ प्रथम अध्याय ❊

◙ दर्शन : तत्त्व एवं मीमांसा

1.1 दार्शनिक भूमिका :

दर्शन के क्षेत्र में भारत जगद्गुरु रहा है। आज भी भारतीय दर्शन को संसार मुग्ध दृष्टि से देखता है। दर्शन जिसने न केवल भारतीय संस्कृति को आकृष्ट किया है, परंतु वैश्विक समुदाय पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। ध्यातव्य है कि वैदिक कवियों की निश्छल सूक्तियाँ, उपनिषदों की अद्‌भुत सांकेतिकता, बौद्धों का विलक्षण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, और शंकर का विस्मय-विमुग्धकारी दर्शन-ये सब सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ऐसे ही अत्यन्त रोचक एवं शिक्षाप्रद है जैसे कि प्लेटो और अरस्तू अथवा कांट और हिगल के दर्शनशास्त्र हैं, यदि हम उक्त भारतीय दर्शन-ग्रंथों का अध्ययन एक निष्पक्ष और वैज्ञानिक भाव से करें और इन्हें पुराना एवं विदेशी समझकर अपमान की दृष्टि से न देखें, इन्हें हेय समझकर इससे घृणा न करें। भारतीय दर्शन की विशिष्ट परिभाषाएँ जिनका सही-सही अनुवाद भी आसानी से अंग्रेजी भाषा में नहीं हो सकता, स्वयं इस बात की साक्षी हैं कि इस देश का बौद्धिक विचार कितना अद्‌भुत है। यदि बाह्य कठिनाइयों को दूर करके उनके ऊपर उठा जाए तो हम अनुभव करेंगे कि मानवीय हृदय की धड़कन में मानवता के नाते कोई भेद नहीं, अर्थात् वह न भारतीय है और न यूरोपीय। यदि मान भी लें कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय विचारधारा का कोई महत्त्व नहीं है तो भी वह ध्यान देने योग्य तो है ही, यदि और किसी दृष्टिकोण से नहीं तो कम से कम इसी विचार से कि एशिया की समस्त विचारधाराओं से भी यह भिन्न है और सब पर इसका प्रभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।[1] दर्शन की आज जब सबसे अधिक आवश्यकता महसूस की जा रही है, ऐसे में गंभीर तथ्य यह है कि उसके प्रति नैराश्यपूर्ण उपेक्षा का भाव देखने को मिल रहा है।

हम सभी आर्य संस्कृति के गुणगान करते रहते हैं, परन्तु हक़ीक़त यह है कि पश्चिमाभिमुख जीवनशैली की ओर हम सब का विशेष खिंचाव रहा है; परिणाम स्वरूप अपनी आर्य संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों को हम भूलने लगे हैं। जीवनमूल्यों के सर्वक्षेत्रीय ह्रास के इस विषम संक्रांतिकाल में मानवीय मूल्यों की ओर मुड़ने की अत्यंत आवश्यकता है और यह कहना अनुचित न होगा कि भारत की भव्य दार्शनिक विचारधारा अपना विशिष्ट योगदान

---

1 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-1, पृ.5-6

दे सकती है। वैसे भी भारत वर्ष में वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यक ग्रंथों, उपनिषदों, दर्शन ग्रंथों, स्मृति ग्रंथों, पुराणों, रामायण एवं महाभारत आदि अनेक दिव्य ग्रंथ ज्ञान, तत्त्व एवं मूल्यों का ख़ज़ाना है।

आज का अत्याधुनिक मनुष्य ऐसी अमूल्य निधि का आवश्यकतानुसार प्रयोग कर अपने जीवन को अलौकिक आनंद से भरपूर कर सकता है; लेकिन बड़े दु:ख की बात है कि वर्तमान समय में हमने भारतीय दर्शन को उपेक्षित कर स्वयं को असुरक्षित-सा बना दिया है। वर्तमानकालीन देश का नैतिक और बौद्धिक वातावरण बुरी तरह विषाक्त हो चुका है, जिसके कारण बढ़ती हुई असहिष्णुता और अमानवीयता के दर्शन हो रहे हैं और इनके पीछे वे विचार कार्यरत हैं; जो बुद्धि और मानवता दोनों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। मानव पशुता की हद पार करने में भी नहीं हिचकिचाता, ऐसे चिंताजनक वातावरण में यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि दर्शन अकेले हमारी बुराइयों का हल कर सकता है; परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि दर्शन के बिना न तो इनका उन्मूलन हो सकता है और न ही विचारशीलता की पुनर्स्थापना हो सकती है। लगभग ढाई हजार वर्षों से अधिक समय तक हमारे अनेक विद्वान मनीषी दर्शन के महत्त्व को प्रतिपादित कर मनुष्य कल्याण हेतु प्रयत्नशील रहे, परन्तु खेद है सिर्फ उनके मनोमंथन रूपी नवनीत का आंशिक प्रयोग कर मनुष्य ने इतिश्री मान ली है।

यह भी सही है कि उनके जो भी विचार और उपदेश रहे हों, आवश्यक नहीं कि वे सब के सब आज की आवश्यकताओं के लिए प्रासंगिक हों; परंतु इस बात से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि अधिकाधिक बिगड़ती जा रही वर्तमान स्थिति से निबटने के लिए यह विचार पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभा सकते हैं। दर्शन की आवश्यकताओं के बारे में गा-बजाकर कहने की ज़रूरत नहीं है, फिर भी सच्चाई यह है कि दर्शन से हम कई समस्याओं का समाधान उचित मार्ग से स्वयमेव कर सकते हैं। भारत जैसे बहुभाषी, सामासिक समाज में राष्ट्रीय मानस को समझने के लिए भारतीय दर्शन का अनुशीलन आवश्यक है। यह और भी जरूरी है क्योंकि भारतीय दर्शन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इसमें आस्था, विश्वास, अंधविश्वास, धर्म जैसे अवयव भी घुले-मिले हैं। मोटे तौर पर दर्शन में दो परस्पर विरोधी धाराएँ तो सक्रिय रही ही हैं। विविधता इतनी विपुल है कि कुछ पंक्तियों में भारतीय दर्शन को परिभाषित करना कठिन है। इसीलिए तर्कसंगत वैज्ञानिक, दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास जरूरी हो जाता है।[2]

---

2 देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन सरल परिचय फ्लैप से

दर्शन जैसे गंभीरतम विषय को योगवासिष्ठ के संदर्भ में-संशोधनात्मक दृष्टिकोण से उजागर करने के पीछे शोधकर्त्री का यही उद्देश रहा है कि मानवमात्र इसकी महत्ता को समझकर उससे लाभान्वित हों ! मानवदेह सिर्फ लौकिक सुख-सुविधाएँ भोगने के लिए ही नहीं मिला है, परन्तु उसका अलौकिक महत्त्व समझने से मनुष्य मानव से महामानव बन सकता है। 'स्व' कल्याण से 'विश्व' कल्याण की भावना से किया गया यह शोधकार्य आत्मसंतोष तभी देगा, जब सुज्ञजन इस ज्ञान को अपने जीवन में यथासंभव प्रयोग में लायेंगे।

1.1.1 'दर्शन' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा :

दर्शन कहते हैं देखने को। यह शब्द देवादि महान् सत्ताओं के देखने में विशिष्ट हो गया है; जैसे चंद्र-दर्शन, देव-दर्शन आदि, किन्तु दर्शन सदा मूर्त पदार्थों का ही नहीं होता है वरन् अमूर्त पदार्थों का भी। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय माना है - *'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।'* दर्शन द्वारा परम दैवत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किए जाते हैं। हमारे वातांबुपरणहारी ऋषियों ने भारत के विस्तृत तपोवनों में, जिनकी महिमा रवि बाबू ने *'प्रथम सामरव तव तपोवने'* लिखकर गाई है, *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* के दर्शन कर अमरत्व प्राप्त किया था। यह दर्शन भिन्न-भिन्न झरोखों में से प्राप्त करने के कारण पूर्ण नहीं हो सकता, किन्तु देवताओं की झाँकी का-सा महत्त्व रखता है। यही दर्शन शब्द की सार्थकता है और यही भारतीय दृष्टिकोण को अन्य देशों के दृष्टिकोण से पृथक् कर देता है। अंग्रेजी में दर्शन शब्द का पर्यायवाची शब्द है Philosophy । उसका शाब्दिक अर्थ होता है- ज्ञान का प्रेम। इसलिए उनका दृष्टिकोण केवल बौद्धिक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी दर्शन को केवल चिंतन की वस्तु नहीं समझता वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है।[3] यह कहना अनुचित नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना 'दर्शन' होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। प्रायः 'दर्शन' हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है। हम चाहकर भी उसे अपने जीवन से अलग नहीं कर सकते। यदि कोई उसे अपने से अलग करने की कोशिश करे भी तो उसका जीवन बुद्धि-जीवी चेतन प्राणी का जीवन न होकर पशुमय जीवन होगा ! अतएव पशुओं के साथ आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है-धर्म अर्थात् धारण करनेवाला समुदाय, उसका विवेक, उसका विचार या उसका दर्शन। 'दर्शन' शब्द वर्तमान समय में तत्त्व-चिंतन (Philosophy) के अर्थ में प्रचलित है, परंतु यह बड़े विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस शब्द का प्रयोग कब से प्रारंभ हुआ और इसका वास्तविक अर्थ क्या है ? दासगुप्ता का कहना है,''यथार्थ तत्त्व-विषयक

3 गुलाबराय : भारतीय दर्शनों की रूपरेखा ('साहित्य अमृत' पत्रिका जुलाई -2008), पृ.7

ज्ञान (True Philosophical Knowledge) के अर्थ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कणाद के 'वैशेषिक-सूत्र' में पाया जाता है जो मेरे मतानुसार बुद्ध-पूर्व काल की रचना है।''[4] डॉ.बदरीनाथ कपूर 'शब्द-परिवार कोश' में अर्थ देते हैं-''दर्शन (दृश+ल्यूट-अन) पुं० 1. देखना। 2. वह चिंतनप्रणाली जिसमें सत्ता की प्रकृति और प्रयोजन का अध्ययन अथवा एक-सी वस्तु या विषय का अध्ययन उसे परम सत्ता का अंश मान कर किया जाता है।''[5]

'दर्शन' सं० दृश् धातु से बना है जिसका मूल अर्थ है-दिखाई देना या देखना। पर लोक-व्यवहार में दर्शन उस ज्ञान या बोध का वाचक है जो हमें आँखों से देखने पर प्राप्त होता है। परंतु हिन्दी में इसका प्रयोग देवी-देवताओं और आदरणीय तथा माननीय व्यक्तियों के सामने जाकर श्रद्धापूर्वक उनका साक्षात्कार करने के अर्थ में और प्राय: बहुवचन रूप में होता है ; जैसे (क) तीर्थों और देव मंदिरों में लोग देवताओं के दर्शनों के लिए जाते हैं। और (ख) मैं कई दिनों से आपके दर्शनों के लिए आने का विचार कर रहा था। परंतु हमारे यहाँ इसका प्रयोग मुख्य रूप से ऐसे व्यवस्थित और शास्त्रीय विचारों के लिए होता है, जिनमें आत्मा, परमात्मा और सृष्टि के पदार्थों और उनके रचना आदि के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से और गहन विवेचन हुआ हो। इसमें किसी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण तत्त्व की वास्तविकता, प्रकृति और स्वरूप जानने का प्रयत्न होता है। हमारे यहाँ वैदिक काल से ही इस बात का विचार होने लगा था कि इस सृष्टि का मूल कारण क्या है, और इसकी रचना किन कारणों और तत्त्वों से किस प्रकार हुई है। उपनिषद् काल में इस प्रकार का विवेचन और भी विकसित हुआ। फिर आगे चलकर हमारे यहाँ सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, और वेदांत नामक 6 प्रसिद्ध दर्शनों की प्रस्थापना और रचना हुई। इसमें से सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति और विकास पर विचार किया गया है और इसका मूल कारण ईश्वर को नहीं बल्कि प्रकृति को माना गया है। योग में ईश्वर या परमात्मा की सत्ता मानकर अपनी आत्मा को उसके साथ मिलाने या उसमें लीन करने के उपाय या विधान बतलाए गए हैं। न्याय दर्शन मुख्यत: तर्कशास्त्र का मूल आधार है। वैशेषिक में द्रव्यों या पदार्थों के गुणों का विवेचन है। न्याय और वैशेषिक दोनों में सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं के योग से मानी गई है। मीमांसा में मुख्यत: वैदिक कर्मकांड का विवेचन है। वेदांत में ब्रह्म को ही इस सृष्टि का सर्वस्व माना गया है और सब कुछ उसी का अंश तथा रूपांतर मात्र सिद्ध किया गया है। इनके सिवा हमारे यहाँ चार्वाक, जैन, बौद्ध, पाशुपत, शैव आदि अनेक आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों की भी रचना हुई है। सारांश यह

---

4 देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन सरल परिचय से उद्धृत, पृ.40

5 डॉ.बदरीनाथ कपूर : शब्द-परिवार कोश, पृ.113

कि दर्शन वह विज्ञान या शास्त्र है जिसमें मनुष्यों को होनेवाले ज्ञान या बोध, सब तत्त्वों या पदार्थों के मूल, आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, विश्व, सृष्टि आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों सिद्धांतों आदि का गंभीर अध्ययन, निरूपण तथा विवेचन होता है। सभी जातियों, देशों, धर्मों और मान्यताओंवाले लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सब बातों के मौलिक नियम ढूँढनेवाले जो शास्त्र बनाते हैं वे सभी दर्शन कहलाते हैं ।[6]

व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन' का अर्थ है- 'ज्ञान के प्रति अनुराग'। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ 'तथ्यों की जानकारी' नहीं, वरन् विश्व और मानव-जीवन के गहनतम प्रश्नों के सम्बन्ध में अभिज्ञता है। 'अनुराग' शब्द से यह भी स्पष्ट है कि दर्शन केवल बौद्धिक छान-बीन तक ही सीमित नहीं है, उसका एक भावात्मक पक्ष भी है। पाश्चात्य परम्परा में दर्शन का प्रारंभिक युग वह है जब विचारकों ने बाह्य प्रकृति के नियमों को समझने का प्रयत्न किया और वैविध्य के पीछे एकता को देखा। सुकरात ने दर्शन को आन्तरिक अध्ययन की ओर मोड़ा और कहा कि आत्मज्ञान ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। तब से दर्शन कई दिशाओं में विकसित हुआ है और युग-युग में उसके विभिन्न पहलुओं पर बल दिया गया है। कभी तत्त्वमीमांसा को, कभी ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र को, तो कभी नैतिक, सामाजिक और कलात्मक जीवन के विवेचन को दर्शन का केन्द्रबिन्दु माना गया है। ऐसी परिस्थिति में, दर्शन की कोई सर्वमान्य व्याख्या प्रस्तुत करना असम्भव है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दर्शन अस्तित्व और जीवन के मूलगत तथा विश्वव्यापी प्रश्नों और मूल्यों का व्यवस्थित अध्ययन है। यह अध्ययन कभी विश्लेषणात्मक होता है, कभी संश्लेषणात्मक ।[7]

पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा 'फ़िलासफ़ी' है। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के संमिश्रण से बना हुआ है- 'फिलास'= प्रेम या अनुराग तथा 'सोफिया'=विद्या। अतः इस शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम= विद्यानुराग। ग्रीस देश में इस शब्द का पहले पहल प्रचलन हुआ। प्रसिद्ध ऐतिहासिक हिरोडोटस (विक्रम पूर्व पंचम् शताब्दी) ने सर्वप्रथम क्रीसस के द्वारा दार्शनिक सोलन के लिए इस शब्द के प्रयोग का उल्लेख किया है। पेरेक्लीज के प्रसिद्ध व्याख्यान में एथेन्स के निवासियों को विद्यानुरागी बतलाने के लिए व्युसिडाइड्स ने भी इस शब्द का प्रयोग किया । सुकरात ने उस समय के प्रसिद्ध, विज्ञान आदि विषयों के व्याख्या सोफ़िस्ट (ज्ञानोपदेशक) लोगों से अपने को पृथक् करने के लिए अपने आपको फ़िलासफ़र (ज्ञानानुरागी=ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील) बतलाया है। सुकरात के शिष्य अफलातूँ

6 आचार्य रामचन्द्र वर्मा : शब्दार्थ-विचार कोश, पृ.290-291

7 डॉ.नगेन्द्र (डॉ.वी.एस.नरवणे) : मानविकी पारिभाषिक कोश-दर्शन, पृ.156

(प्लेटो) तथा प्रशिष्य अरस्तू (अरिस्टाटल) ने इसका प्रचार नहीं किया; प्रत्युत इसकी विभिन्न शाखाओं पर प्रामाणिक निबंधों का निर्माण कर पाश्चात्य दर्शन के वास्तविक प्रचारक बने। इस प्रकार 'फ़िलासफ़ी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-विद्या का प्रेम या अनुराग। जो विद्वज्जन जीव, जगत्, ईश्वर, धार्मिक या सामाजिक तत्त्वों की छानबीन करने में प्रयत्नशील होते थे वे 'फ़िलासफ़र' (विद्यानुरागी) कहलाते थे। इस मूल अर्थ की अधिक व्यापकता के कारण आजकल इसका प्रयोग कुछ संकुचित अर्थ में होने लगा है। आरंभ में 'फ़िलासफ़ी' के अंतर्गत विज्ञान भी आता था, पर आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है। इस जगतीतल के विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन तथा वर्णन को 'विज्ञान' कहते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन, ज्योति:शास्त्र आदि। परन्तु इन विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उद्भावित सत्यों का एकीकरण 'फ़िलासफ़ी' का विषय है। अत: ब्रह्माण्ड-जगत्, जीव तथा ईश्वर के विशिष्ट स्वरूप का अध्ययन 'विज्ञान' में तथा सामान्य रूप का अध्ययन 'फ़िलासफ़ी' में किया जाता है। इस प्रकार सामान्य रूप से 'दर्शन' के लिए 'फ़िलासफ़ी' का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु दोनों के ध्येय में नितान्त पार्थक्य है।[8]

यदि स्थूल दर्शनों के आधार पर देखा जाय तो 'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति, 'दृश्' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर हुई है, जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाय' *(दृश्यते अनेन इति दर्शनम्)*। देखने का स्थूल साधन आँखें हैं। इस आँख इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको 'चाक्षुस प्रत्यक्ष' कहते हैं। अतएव चाक्षुस प्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शन का अभिप्रेत 'देखा हुआ' ज्ञान है। जबकि सूक्ष्म दर्शनों का मत है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिनका चाक्षुसप्रत्यक्ष नहीं हो सकता; अर्थात् जो आँखों से नहीं देखी जा सकती। उनके लिए सूक्ष्म दृष्टि (तात्त्विक) बुद्धि की आवश्यकता है। इस सूक्ष्म दृष्टि या तात्त्विक बुद्धि के दूसरे नाम 'प्रज्ञाचक्षु', 'ज्ञानचक्षु' या 'दिव्यदृष्टि' हैं। इस मत में 'दर्शन' शब्द का अर्थ हुआ 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाय'। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने से पहले अर्जुन को 'दिव्यचक्षु' दिये थे। यदि हम व्यापक अर्थ में दर्शनशास्त्र को देखें तो उसका उद्देश्य आँख द्वारा सामान्य वस्तुओं को देखना नहीं, परन्तु अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा सामान्य वस्तुओं और घटनाओं के भी पीछे छिपे सत्य को देखना है। इसे ही दार्शनिक चिंतन कहा गया है। सूक्ष्म दृष्टि में अन्तर्दृष्टि तथा तार्किक परीक्षण भी समाविष्ट हो जाता है। 'दर्शन' शब्द के इस व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ को दृष्टि में रखकर यदि उसकी परम्परा के मूल उत्स का अनुसंधान किया जाय तो उपनिषदों और दूसरे शास्त्रों में उसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ मिलता है।

8 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन (उपोद्घात), पृ.4

उदाहरणार्थ शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'ईशावास्योपनिषद्' के निम्नांकित श्लोक लिया जा सकता है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।[9]

उपर्युक्त विमर्श का सार यही है कि भारतीय ज्ञान भण्डार को समृद्धि से भरपूर करने में प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का अतुलनीय योगदान निश्चय ही वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सविशेष सराहनीय माना जाएगा। इन दार्शनिकों का लक्ष्य सिर्फ मानव की भौतिकता को ही महत्त्व देने का नहीं था, परंतु भौतिक समृद्धि से परे भी कोई समृद्धि होती है; जिसके बगैर यह भौतिकता मूल्यहीन हो जाती है। यह निर्देशित करने का उनका सकारात्मक प्रयास सिर्फ स्वयं के लिए ही नहीं, परंतु मानवमात्र के लिए अवश्यमेव लाभकारक सिद्ध हुआ है। दर्शन शब्द मूलत: आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान या परमात्मज्ञान का वाचक है। इस शब्द का प्रयोग दार्शनिक पद्धति, सिद्धांत अथवा शास्त्र के लिए भी होता रहा है, परन्तु आज इस शब्द का अर्थ तत्त्वचिंतन के रूप में विशेष प्रचलित है। सच्चा दर्शन वस्तु जगत् के मौलिक सत्य की बौद्धिक खोज है। आदर्शों से शासित दर्शन-वस्तु, व्यक्ति, जगत, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि के स्वरूप का गहन विश्लेषण करता है।

1.1.2 दर्शनशास्त्र का स्वरूप :

अनादिकाल से संसार में दु:ख है और दु:ख की निवृत्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषियों ने बहुत तपस्याएँ की हैं। बाह्य और आभ्यन्तर साधनों के द्वारा ज्ञानी लोग अपनी-अपनी तपस्या में सफल भी हुए हैं। परम तत्त्व के ज्योतिर्मय स्वरूप का उन लोगों ने साक्षात्कार किया है। अपने-अपने अनुभवों को शब्दों के द्वारा लोगों के कल्याण के लिए उन्होंने अपनी शिष्य परम्परा को सिखलाया है। एक व्यक्ति-विशेष के दृष्टि के अनुसार जिस शास्त्र या ग्रन्थ में परम तत्त्व का साक्षात् प्रतिपादन किया गया हो तथा उस अनुभूति के साधन-मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही एक 'दर्शन-शास्त्र' है।[10] दर्शन स्वयं में एक व्यापकत्व का द्योतक बना है। दर्शन में हम संपूर्ण विश्व को जानने-समझने-परखने का मानसिक प्रयास करते हैं। साधारण ज्ञान में हम भावनाओं और मनोवेगों के फलस्वरूप किसी पदार्थ के बारे में सोच लेते हैं और इस प्रकार ज्ञान निष्पक्ष नहीं रह पाता। दर्शन में हम निष्पक्ष रहकर किसी भी मान्यता से परे वास्तविकता को जानने-समझने का प्रयास करते हैं। इसमें हमारा उद्देश्य किसी स्वार्थ

9 ईशावास्योपनिषद्, 15

10 डॉ.उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ.14

सिद्धि नहीं होता। दर्शन एक ऐसा मानसिक प्रयत्न है; जो विज्ञान के समान साधारण ज्ञान से भिन्न, विरोधरहित, निष्पक्ष तथा सुव्यवस्थित है। विज्ञान एवं दर्शन में फर्क यह है कि विज्ञान विश्व के विशिष्ट वर्गों का अध्ययन करता है, जबकि दर्शन का विषय है संपूर्ण जगत । साधारण ज्ञान और विज्ञान की भाँति दर्शन एक मानसिकता से परिपूर्ण प्रयत्न है, लेकिन दोनों से भिन्न भी है। विज्ञान की भाँति दर्शन में भी व्याख्याएँ की जाती है, परंतु पदार्थों का वर्गीकरण नहीं। अत: दर्शन विश्व को संपूर्णता में समझने का सुव्यवस्थित व मानसिकतापूर्ण प्रयत्न है। भारतीय दर्शन में दार्शनिक चिंतन और जीवन पारस्परिक घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं। दर्शन सिर्फ सैद्धांतिक अन्वेषण ही नहीं, बल्कि उसके अनरूप जीवन को ढालने का प्रयत्न है। अत: दर्शन केवल मानसिक व्यायाम ही नहीं, परन्तु जीवनाधार भी है। हम सब एक है।

एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करना जरूरी है कि पाश्चात्य दर्शन का उद्भव शुद्ध जिज्ञासा को शांत करने के लिए हुआ है, परन्तु भारतीय दर्शन का लक्ष्य खासकर दु:ख का निवारण ही माना जाता है। पश्चिमी दर्शन विश्लेषणात्मक (Analytic) है । पश्चिमी दर्शन के विश्लेषणात्मक कहे जाने का कारण यह है कि दर्शन की विभिन्न शाखाओं का, जैसे तत्त्व-विज्ञान(Metaphysics), नीति-विज्ञान (Ethics), प्रमाणविज्ञान (Epistemology), ईश्वर-विज्ञान (Theology), सौंदर्य-विज्ञान (Aesthetics) की व्याख्या प्रत्येक दर्शन में अलग-अलग की गई है। परन्तु भारतीय दर्शन में दूसरी पद्धति अपनाई गई है। यहाँ प्रत्येक दर्शन में प्रमाण-विज्ञान, तर्क-विज्ञान, नीति-विज्ञान, ईश्वर-विज्ञान आदि की समस्याओं पर एक ही साथ विचार किया गया है। श्री बी०एन०शील ने भारतीय दर्शन के इस दृष्टिकोण को संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (Synthetic outlook) कहा है। पश्चिमी दर्शन इह-लोक (This-World) की ही सत्ता में विश्वास करता है, जबकि भारतीय दर्शन इह-लोक के अतिरिक्त परलोक (Other-World) की सत्ता में विश्वास करता है ।[11] दोनों दृष्टिकोणों में यह अन्तर रहने पर भी दोनों में आधारभूत साम्य है। दोनों का विषय एक ही है-संपूर्ण विश्व । अत: दोनों में मौलिक भेद नहीं मानना चाहिए । भारतीय दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा-रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता है। यह आत्मदृष्टि, जो वहीं सम्भव है जहां दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है, एक सच्चे दार्शनिक की स्पष्ट पहचान है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय में उच्चतम विजय उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने अपने अन्दर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है। इस पवित्रता का आधार है अनुभव की प्रगाढ़ स्वीकृति, जो केवल उसी अवस्था में साक्षात् हो सकती है जब मनुष्य को अन्तर्निहित

11 प्रो.हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.4

उस शक्ति की उपलब्धि हो, जिसके द्वारा वह न केवल जीवन का निरीक्षण ही अपितु पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सके। इस अन्तस्तम निकास से ही दार्शनिक हमारे सामने जीवन के सत्य को प्रकट करता है-उस सत्य को जो केवल बुद्धि द्वारा प्रकाश में नहीं आ सकता। इस प्रकार की दर्शनशक्ति लगभग ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाती है जैसे फूल से फल की उत्पत्ति होती है, और इसका उत्पत्तिस्थान वह रहस्यमय केन्द्र है; जहाँ सब प्रकार के अनुभव का सामंजस्य होता है।[12]

1.1.3 दर्शन उत्पत्ति व विस्तार :

दर्शन का इतिहास बहुत प्राचीन है। कदाचित सिर्फ धर्म के इतिहास का प्रारंभ इसके पूर्व से होता है। फिर भी न जाने क्यों आश्चर्य की बात रही है कि आज तक इस मूल विषय के संबंध में ही सहमति नहीं है कि दर्शन का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी ठीक-ठीक विषय-वस्तु क्या है ? वेबर का दृष्टिकोण बताता है कि दर्शन विश्व तथा जीवन को उनकी समग्रता में समझने का एक प्रयास है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने केसाथ-साथ चिंतनशील प्राणी भी है। परिणाम स्वरूप उसके सामने फैला विशाल विश्व तथा उसका अपना जीवन उसके सामने ये गुत्थियाँ उपस्थित करते हैं, जिन पर चिन्तन करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। दर्शन में हम यह समझने का प्रयास करते हैं कि-विश्व का स्वरूप क्या है ? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार से और क्यों हुई ? विश्व का कोई प्रयोजन है या यह प्रयोजनहीन है ? आत्मा क्या है ? जीव क्या है ? ईश्वर है या नहीं है ? ईश्वर का स्वरूप क्या है ? ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण क्या है ? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? सत्ता का स्वरूप क्या है ? ज्ञान का साधन क्या है ? सत्य ज्ञान का स्वरूप और सीमाएँ क्या है ? शुभ और अशुभ क्या है ? उचित और अनुचित क्या है ? नैतिक निर्णय का विषय क्या है ? व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर हम दर्शन के जरिए प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। भिन्नार्थक रूप में, दर्शन मनुष्य के इसी प्रकार के चिंतन की उपज है, वह ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर ढूँढने का प्रयास है। विश्व तथा जीवन के संबंध में ऐसे ही व्यापक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से मनुष्य दार्शनिक चिंतन प्रारंभ करता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि दर्शन का प्रारंभ जिज्ञासा से होता है और यह जिज्ञासा समग्र विश्व तथा समग्र जीवन से संबंधित कुछ मूलभूत प्रश्नों के उत्तर के संबंध में होती है।

---

12 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-1, पृ.36

भारतीय जीवन में चिंतन की पुराकालीन परम्परा का कोई आदि नहीं है। हम तिथिविशेष या कालविशेष के आधार पर उनकी सीमा आबद्ध नहीं कर सकते। सत्य यह है कि हमारे दीर्घतपा-अनुसंधानमति ऋषिकुलों में लंबी कालावधि तक ज्ञान की उपासना करते हुए जो तथ्य व अनुभव अर्जित किये गये, उन्हीं का संग्रह दर्शनग्रंथों में पाया जाता है।[13] भारतीय दर्शन की-उसके विकासक्रम की अपनी नीजी विशिष्टता रही है, जो यूरोपीय दर्शन के विकास क्रम से विरोधात्मक कही जा सकती है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यूरोप में दर्शन का विकास प्राय: एक-दूसरे के पश्चात् होता रहा है। वहाँ एक दर्शन की समाप्ति पर दूसरे दर्शन का विकास हुआ है। सुकरात के बाद प्लेटो आए। डेकार्ट के पश्चात् स्पिनोजा का दर्शन विकसित होता दिखाई देता है। वहाँ बाद के दर्शन पूर्व दर्शनों की आलोचना करते हैं। यह आलोचना दर्शन को संगत बनाने हेतु ही की गई है। स्पिनोजा का दर्शन डेकार्ट की कमियों को दूर करने का प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। बर्कले का दर्शन लॉक की कमियों को दूर करने का प्रयास कहा गया है। स्पिनोजा का दर्शन विकसित हुआ ही नहीं था कि डेकार्ट का दर्शन लुप्त हो गया। ठीक उसी प्रकार बर्कले का दर्शन लोकप्रिय हुआ नहीं कि लॉक का दर्शन समाप्त हो गया।

भारतीय दर्शनों के संदर्भ में देखें तो यहाँ सभी दर्शनों का विकास एक साथ नहीं हुआ है, फिर भी उन सभी दर्शनों में अद्‌भुत सहयोग है। सभी दर्शन साथ-साथ अस्तित्व में रहे हैं । इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि भारत में दर्शन को जीवन का एक अंग माना गया है। ज्यों ही एक संप्रदाय विकसित हुआ, त्यों ही उसके मानने वाले संप्रदाय का भी प्रादुर्भाव होता रहा है। उस दर्शन के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी वह दर्शन अपने अनुयायियों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रहा । भारतीय दर्शनों के शताब्दियों तक जीवित रहने के पीछे यही रहस्य है।[14] कुछ लोग भारतीय दर्शन पर 'हिन्दू-दर्शन' होने का आक्षेप लगाते हैं, परन्तु यह विचार ही भ्रामक है। हिन्दू-दर्शन भारतीय दर्शन का एक अंग मात्र है। यदि भारतीय दर्शन हिन्दू-दर्शन होता तो जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों का यहाँ संकलन नहीं होता। इसलिए भारतीय दर्शन को हिन्दू-दर्शन कहना भारतीय दर्शन के विस्तार एवं क्षेत्र को सीमित करना है। भारतीय दर्शन ने अन्य दर्शनों को भी पनपने का मौका दिया है, यही कारण है कि भारतीय दर्शन आज भी मानवमात्र को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। भारतीय दर्शन में औरों को साथ लेकर चलने

---

13 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.21

14 प्रो.हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.8-9

का बहुत बड़ा गुण है, यही उसकी महत्ता सिद्ध करता है। बेशक, भारतीय दर्शन अपने आप में अद्वितीय है।

1.1.4 दर्शन का लक्ष्य :

भारतीय दर्शन मानव मात्र के लिए प्रकाशमान स्रोत है, जिसके द्वारा प्रशस्त किए हुए मार्ग पर चलकर मानव अपनी उन्नति के सोपान पार करता है। आज हम जानते हैं कि हमारा वर्तमान जीवन कितना भी घृणित और दु:खी क्यों न हो, फिर भी हम सन्मार्ग पर चलते हुए जिस प्रकार अपने भविष्य के जीवन को उज्जवल और सुखमय बनाने की आशा करते हैं और इसी कारण विभिन्न धार्मिक कार्य करते हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन संसार के दु:खमय जीवन से विरक्ति को दिखाता हुआ क्रमश: भविष्य के प्रकाश और आनंदमय अवस्था के मार्ग में हमें अग्रसर करता है। ज्यों-ज्यों इस मार्ग में हम अग्रसर होते हैं, त्यों-त्यों हमारे अंत:करण का अनादि कर्म और वासनाओं से उत्पन्न मल दूर होता जाता है और क्रमश: ज्ञान विकसित होने लगता है तथा परमानंद का आभास मिलने लगता है। दार्शनिक चिंतन का मुख्य लक्ष्य जीवन के क्लेशों को दूर करने का उपाय ढूँढ़ना है। साथ ही साथ भारतीय दर्शन का लक्ष्य तर्क से परे पहुँचना और नीति से परे पहुँचना भी रहा है। -

दर्शनशास्त्र न केवल सत्य की खोज करता है वरन् यह भी बताता है कि सत्य ही हमारी मुक्ति का हेतु है। विशेषकर भारतीय दार्शनिक चिंतन का तो लक्ष्य ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तीन प्रकार के दु:खों से अर्थात् सभी दु:खों से मुक्ति दिलाने वाले ज्ञान की खोज करना रहा है।[15] वाचस्पति गैरोला जी का कथन है-''दर्शन विद्या की उत्पत्ति का प्रयोजन है दु:खसामान्य (अशेष दु:ख) की निवृत्ति और सुखसामान्य (उत्तम सुख) की प्राप्ति । इसी अभिलाषा से दर्शनशास्त्र (शास्त्रसामान्य) की आवश्यकता हुई । विशेष-विशेष दु:ख की निवृत्ति और विशेष-विशेष सुख की प्राप्ति के लिए विशेष-विशेष (पृथक्-पृथक्) शास्त्रों, शिल्पों एवं विद्याओं में उपाय बताये गये हैं, किन्तु दु:खसामान्य की निवृत्ति और सुखसामान्य की उपलब्धि के लिए दर्शनशास्त्र ही एकमात्र उपाय है।'दर्शन' उसका अभिधान इसीलिए हुआ कि वह सर्व शास्त्रों का संग्राहक (शास्त्रसामान्य) है; अर्थात् उसमें सब शास्त्रों का सार या तत्त्व निहित है।''[16] दर्शनविद्या के प्रयोजन का विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हुए श्रद्धेय डॉ.भगवानदास ने अपनी पुस्तक 'दर्शन का प्रयोजन' में लिखा है,

---

15 शोभा निगम : भारतीय दर्शन, पृ.19-20

16 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.15

''सांसारिक और पारमार्थिक दुनियाबी और इलाही, रूहानी । दोनों सुखों को साधने का मार्ग दरसावे, वही सच्चा दर्शन है; वही दर्शन का प्रयोजन है।''

यद् आभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च ।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम् ।।[17]

विश्व के सभी धर्मों और दर्शनों का एक ही अन्तिम लक्ष्य रहा है-निःश्रेयस् की प्राप्ति। निःश्रेयस्, अर्थात् अपवर्ग, मोक्ष अथवा सब प्रकार के त्रिविध दुःखों-तापों की आत्यन्तिक निवृत्ति। ऐसी निवृत्ति, जिसके बाद कभी भी किसी भी प्रकार के दुःखानुभव की आशंका नहीं रह जाती है।[18] दर्शन और मानव मानो एक सिक्के के दो पहलू हैं। दर्शनशास्त्र मानव को अपना स्वरूप सोचने और उससे अनुभवजन्य सत्यों से गुज़रने की प्रेरणा देता है। यही प्रेरणा मनुष्य का विश्व के साथ व अन्य प्राणीजगत के साथ अपने सम्बन्ध को सोचने-समझने में मददगार होता है। फलस्वरूप मानव जीवन स्थूल से सूक्ष्म और सर्वलक्षी बनने की ओर अग्रसर होता है। यहाँ सही मायने में अभेद की स्थिति निर्मित होती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मानव जीवन और भारतीय दर्शन का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठतापूर्ण है। ये दोनों ही एक ही लक्ष्य को सामने रखकर एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक हैं। इन दोनों की सत्ता एक ही कारण पर निर्भर है। उस चरम तत्त्व का सैद्धांतिक रूप हमें दर्शन-शास्त्रों में ही मिलता है, किन्तु व्यावहारिक रूप तो अपने जीवन में ही मिलता है और ये दोनों ही रूप मिल कर हमें उस परम तत्त्व के पूर्ण रूप का अनुभव कराते हैं। दुःख का आत्यन्तिक नाश या जन्म और मरण से सदैव मुक्त होना सभी का चरम लक्ष्य है।

1.1.5 दर्शन की भूमि भारत :

अधिकांश भारतीयों का शान्त व गाभीर्यपूर्ण व्यवहार-वर्तन यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति एवं खुशनुमा जलवायु के कारण है। प्राकृतिक सौंदर्य और उर्वर भूमि से पर्याप्त मात्रा में फल, कंद-मूल एवं अनाज की प्राप्ति के कारण यहाँ की प्रजा बहुत ही सौम्य प्रकृति की बन पाई है। इन्हीं कारणों से ये लोग अपनी तमाम शक्तियों को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओं को, जन्म-मृत्यु के रहस्य को, दैवी शक्ति एवं आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने-समझाने में लगा सके हैं। भारतीयों का प्रत्येक कार्य अलौकिक तथा आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। मनुष्य के जीवन के नियमानुकूल कार्य तथा दर्शन-शास्त्रों

---

17 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन से उद्धृत, पृ.16

18 वाचस्पति गैरोला : भारतीय धर्मशाखाएँ और उनका इतिहास, पृ.23

में सिद्धांत-रूप में कहे गये आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत है कि एक दूसरे से कभी भी पृथक् नहीं को सकते। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवन का सादापन, उच्च विचार में प्रेम, अंत:करण की प्रशांत भावना, सत्यप्रियता, संसार को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनों को सुधारने में तत्परता, परम सुख तथा आनंद की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह, आदि गुण साधारण रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते हैं। जीवन की झंझटों से बच कर सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस्, नि:श्रेयस् और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड़, सुख और दु:ख, आदि तत्त्वों के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि के आरंभ से ही भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियों को लगाते चले आ रहे हैं। इसके लिए वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य साक्षी हैं। इसलिए भारतवर्ष की पूण्यभूमि में अनादिकाल से ही आध्यात्मिक चिंतन की, दर्शन की, विचार-धारा बहती चली आ रही है, यह कहना अनुपयुक्त न होगा।[19]

हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है कि सदियों पूर्व जब विश्व के अधिकांश देश अंधकारमय जीवन जी रहे थे, तब हमारी इस पावन धरा पर ज्ञान के दीपक पूर्णरूपेण प्रकाशित हो रहे थे। हमारे विद्वान मनीषी सिर्फ सामान्य घटनाओं का कारण ही नहीं ढूँढ़ते थे, वरन, जीवन की अनेकानेक समस्याओं-सुख-दु:ख, जीवन-मृत्यु तथा जगत का भी कारण ढूँढ़ते थे और इस तरह सत्य का अन्वेषण करते थे। उनकी इसी जिज्ञासावृत्ति ने भारत-भूमि पर दर्शन के बीज बोये। समय गुज़रते इसी ने वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया। नि:शंक वर्तमान समय में दर्शन-वृक्ष के छाँव में बैठकर मनुष्य मात्र अपनी जीवन-यात्रा की थकावट दूर कर सकते हैं। भारतीय दर्शन की विकास परम्परा और उसकी पृष्ठभूमि को देखने से यह ज्ञात होता है कि भारत में सहस्रों वर्षों पूर्व से चिंतन की धारा अविरत रूप में आगे बढ़ती गयी और उससे भारत की विचार-भूमि सदैव ही उर्वर बनी रही।

भारतभूमि में कुछ ऐसा अलौकिक तत्त्व निहित है, जिससे कि आध्यात्मिक दृष्टि से कहें या दर्शन की दृष्टि से, उसकी एक अलग पहचान कायम हुई है। नि:शंक एक भारतीय होने के नाते इस बात का गौरव अनुभूत हुए बिना नहीं रहता कि हमारी भारतभूमि दर्शन के क्षेत्र में विश्व से दो कदम आगे है। इसका श्रेय हमारे विद्वान मनीषियों को ही जाता है, जिन्होंने हमें यह गौरव दिलाया।

19 डॉ.उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ.3-4

1.1.6 दर्शन की वेदाधारिता :

भारतीय दर्शन का मूल वेद हैं। वेद, न केवल भारतीय दर्शन के वरन् प्राचीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति, आचार, नीति, धर्म और साहित्य के भी मूल हैं । इन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए जो दर्शन आगे चलकर प्रस्तुत हुए हैं वे वैदिक दर्शन कहलाये। दर्शन के मर्मज्ञ डॉ.राधाकृष्णन लिखते हैं-''वेद मानव-मस्तिष्क से प्रादुर्भूत ऐसे नितान्त आदिकालीन प्रमाणिक ग्रन्थ हैं, जिन्हें हम अपनी निधि समझते हैं।''[20] ऐसी बात नहीं कि वेदों के पूर्व कोई साहित्य या संस्कृति भारत या भारत के बाहर मौजूद नहीं थी, अवश्य थी किन्तु उनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है; जबकि वैदिक ऋचाएँ आज भी अपने प्राचीनतम रूप में विद्यमान हैं। इसीलिए वेद मानव-ज्ञान के प्राचीनतम अभिलेख माने जाते हैं। भारतीय परम्परा में वेदों को समस्त धर्मों का मूल कहा गया है।[21] इसी तरह कहा गया है कि जिससे धर्म का ज्ञान हो वह वेद है।[22]

वेद न केवल भारतीय धर्मों के, वरन् दर्शनों के भी मूल हैं । सच तो यह है कि भारतीय दर्शन में वेदों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। यद्यपि वेद स्वयं कोई विशुद्ध दार्शनिक रचना नहीं है, परन्तु निश्चय ही वेदों में यत्र-तत्र दार्शनिक विचार बिखरे हुए हैं। 'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'ज्ञान'। वस्तुत: वेद ज्ञान के भण्डार हैं। किन्तु कैसा है यह ज्ञान ? यह कोई सामान्य बौद्धिक ज्ञान नहीं है, यह ऐसा ज्ञान है जिसका ऋषियों ने तपस्या के द्वारा साक्षात्कार किया है। 'अभय ज्योति' के रूप में इस ज्ञान का साक्षात्कार कर इसे ही उन्होंने शब्दों द्वारा मन्त्र-रूप में प्रकाशित किया है। इन्हीं मन्त्रों के संकलन 'वेद' के नाम से विख्यात है। ऋषियों के साक्षात् प्रत्यक्षगोचर होने के कारण इन मन्त्रों में कहीं भी असत्य या अविश्वास का कोई स्थान नहीं है। ये मन्त्र परमात्मा के स्वरूप हैं और नित्य 'अभय ज्योति' के रूप में अभिव्यक्त होने के कारण 'अपौरुषेय' कहे जाते हैं। अतएव इनके सत्य होने में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता। वेद 'श्रुति' कहलाता है और अलिखित रूप में ही अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहा है। वेद समस्त ज्ञान के आधार माने जाते हैं, अत: वेदों को प्राय: ग्रन्थ न मानकर 'संपूर्ण ज्ञान का आधार' माना जाता है।

सांसारिक साधनों के द्वारा अपने दु:ख को दूर करने में असमर्थ जिज्ञासु देवता की स्तुति करता है-''हे आदित्य ! मुझे दाहिने और बायें का ज्ञान नहीं है; मैं पूर्व और पश्चिम

---

20 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-1, पृ.50

21 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

22 'विदन्त्यनेन धर्म: वेद:'

दिशाओं को नहीं जानता । मेरा ज्ञान परिपक्व नहीं है और (ज्ञान के बिना) मैं मूढ़ और हतोत्साह हो गया हूँ। यदि आपकी कृपा हो, तो मैं अवश्य ही 'अभय-ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ।''[23] इसके अनन्तर ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में भी इसी 'अभय-ज्योति' के लिए साधक ने प्रार्थना की है।[24] इन मन्त्रों में परमतत्त्व को जानने के लिए जिज्ञासु ने आत्म-समर्पण किया है। बिना आत्म-समर्पण के ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता।

वेद में जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराएँ दृष्टव्य है। 'अग्नि' से जगत् की उत्पत्ति कही गई है, पश्चात् 'सोम' से पृथ्वी, अंतरिक्ष, दिन, रात, जल तथा औषधियों की उत्पत्ति मानी गई है। 'त्वष्टा' ने समस्त जीवों को उत्पन्न किया। 'इन्द्र' ने समस्त पृथ्वी तथा अंतरिक्ष को उत्पन्न किया। इन्होंने ही तीनों लोकों को तथा जीवों को उत्पन्न किया। इसी प्रकार कभी विश्वकर्मा, कभी वरुण आदि संसार की सृष्टि करने वाले कहे गये हैं। एक बात तो सुस्पष्ट है कि साधकों ने अपने-अपने मत से जिसे चाहा उसे अपने कार्य की सिद्धि के लिए सब से बड़ा बना दिया, यहाँ तक कि उसे जगत् का सृष्टा ही बना दिया है। और एक बात, *'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'* (ऋग्वेद 1.164.46) इस मन्त्र के अनुसार इन देवताओं में अभेद है; ऐसी अभेद बुद्धि ऋग्वेद के मन्त्रों में ही स्पष्ट है।

- **नासदीय-सूक्त :**

नासदीय-सूक्त तो दार्शनिक सूक्त ही माना गया है। इसमें सृष्टि-प्रक्रिया का विशद वर्णन है। यह सूक्त आलोचकों के अनुसार ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिंतनधारा का मौलिक परिचायक है। इसके ऋषि परमेष्ठी प्रजापति तथा देवता परमात्मा है। यह सूक्त मूलतः सृष्टि की उत्पत्ति को निदर्शन करता है, इसलिए इसे सृष्टि उत्पत्तिसूक्त के नाम से भी जाना जाता है। इस सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरंभ में न 'असत्', न 'सत्'; न 'अन्तरिक्ष' और न 'व्योम' था।[25] मृत्यु का भी भय नहीं था। केवल वह 'एक' था, उसके अतिरिक्त कोई भी नहीं था। अंधकार ही अंधकार था। जल तो था, पर प्रकाश नहीं था। 'एक' 'तपस्' से उत्पन्न हुआ, आदि सृष्टि के सम्बन्ध में ऋग्वेद में विचार मिलता है। इस सूक्त में यह स्पष्ट हुआ है कि सृष्टि के आरंभ में एक कोई अव्यक्त चेतन था, जिससे कालान्तर में सृष्टि के वैचित्र्य अभिव्यक्त हुए। उस अव्यक्त चेतन को 'तपस्' कहा गया है। वस्तुतः यही सर्वव्यापी शक्ति है, इसी से ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति की

---

23 ऋग्वेद, 2.27.11

24 वही, 2.27.14

25 वही, 10.129.1

अभिव्यक्ति होती है। यही भावना ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भी स्पष्ट है।[26] वेदों में अद्वैत तत्त्व को आत्मा, निष्काम, आत्मनिर्भर, अपर, स्वयंसिद्ध, आनंदमय, अनिर्वचनीय, सर्वश्रेय, सर्वव्यापक और शाश्वत आदि अनेक विभूतियों से युक्त कहा गया है। उसी अनिर्वचनीय परमेश्वर को इस सृष्टि का और इस सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों का आधार बताया गया है।[27]

- **पुरुषसूक्त :**

एक व्यापक शक्ति का वर्णन हमें वेद में स्पष्ट रूप से मिलता है। उस शक्ति (विराट् पुरुष) से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है। यही भाव यजुर्वेद के 'पुरुषसूक्त'[28] में देखे जा सकते हैं। ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है। इसका सबसे सुंदर दृष्टांत पुरुषसूक्त (10/90/2) में मिलता है। ''जो कुछ समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है (भूतकाल में) तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है (भविष्यकाल में) वह सब पुरुष ही है; और वह (पुरुष) अमृतत्व का (देवत्व) का स्वामी है (तथा) जो अन्न से बढ़ता है (उसका भी स्वामी है)।''[29] इस सूक्त में सर्वेश्वरवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ है। वेद में इन्द्र को सबसे बड़े देवता के रूप में देखा गया है। यही इन्द्र, सायणाचार्य के विचार में, कभी अग्नि, कभी सूर्य और कभी वायु के रूप में वेद में वर्णित हैं। अन्तरिक्ष के सभी नक्षत्र इन्हीं इन्द्र के रूप हैं। इसीलिए वेद ने कहा है कि *'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'* अर्थात् अपनी शक्तियों के द्वारा इन्द्र बहुत-से रूपों को धारण कर लेते हैं। वेद में अद्वितीय, सर्वव्यापक, अव्यक्त उस 'एक' का वर्णन है, जो सर्वशक्तिमान् है, जो दुष्टों का दमन करता है तथा सज्जनों की रक्षा करता है।[30]

- **हिरण्यगर्भसूक्त :**

ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121वाँ 'हिरण्यगर्भसूक्त' गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों व उच्च दार्शनिक विचारों के कारण महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आनन्द रूप होने से अथवा इदमित्थंरूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये प्रजापति 'कः' शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं, क्योंकि उनका स्वरूप अनिर्वचनीय है या सुखरूप हैं। ''यही हिरण्यगर्भ सबके आगे उत्पन्न

---

26 ऋग्वेद, 1.3.10-12

27 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.33

28 ऋग्वेद, 10.90; देखिए-यजुर्वेद अध्याय-16

29 पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। -ऋग्वेद 10.90.2

30 वही, 9.23 / 3.46

हुए, उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियों के एक अद्वितीय अधिपति हुए । इस पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करने वाले हैं । यज्ञ-यागों में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं।''[31] वे समस्त प्राणियों के प्राणदाता आत्मा तथा बलदाता हैं। अमरता तथा मृत्यु छाया के समान उनके अधीन रहती है ।

- **अदिति सूक्त :**

अदिति सूक्त (1/89/10) में अदिति के वर्णन के अवसर पर गौतम ऋषि का कहना है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अंतरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है तथा पुत्र है; अदिति समस्त देवता है, अदिति पञ्चजन (निषादसहित चतुर्वर्ण) है। जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब अदिति ही है। इस प्रकार अदिति की सर्वव्यापकता स्वीकृत कर विश्व के साथ अभिन्नता प्रस्थापित की गई है।[32]

- **स्कम्भसूक्त :**

अथर्ववेद के स्कम्भसूक्त को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता के सिद्धांत अथर्ववेद को सर्वथा मान्य हैं। ब्रह्म की ही अन्यतम संज्ञा 'स्कम्भ' (आधार) है। जगत् के समस्त पदार्थ उसीके आश्रय में निवास करते हैं तथा अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। अतः उसकी 'स्कम्भ' संज्ञा अन्वर्थक है। 'स्कम्भ' विश्व का कारण है, ब्रह्म का भी वह कारण है। अतः उसे जयेष्ठ ब्रह्म भी कहते हैं। ''जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश समाहित हैं, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिनमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है।''[33] द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रदेशों का धारण करने वाला वही 'स्कम्भ' है[34] और एक मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि वह भूत, भव्य (भविष्य) तथा समस्त वर्तमान का अधिश्वर है।[35]

- **उच्छिष्ट सूक्त :**

इस सूक्त में उच्छिष्ट नाम के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ । दृश्य-प्रपञ्च के निषेध करने के अनन्तर जो अवशिष्ट रहता है वही 'उच्छिष्ट' है, अर्थात् बाधा-रहित परब्रह्म । ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति

---

31 हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। -ऋग्वेद 10.121.1

32 वही, 1.89.10

33 अथर्ववेद, 10.7.12

34 वही, 10.7.35

35 वही, 10.8.1

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नेति' 'नेति' *(अथात आदेशो नेति नेति)* के रूप में हुई है।[36] इस सूक्त में विश्व के समस्त पदार्थ 'उच्छिष्ट' के ऊपर आधारित बतलाये गये हैं। ऊपर निर्दिष्ट सूक्तों में प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ तथा उच्छिष्ट एक ही परमतत्त्व के वाचक हैं।

उपर्युक्त बातों का संकेतार्थ यही है कि हमारे प्राचीनतम ग्रंथों में भारतीय दर्शन के विभिन्न अंगों का वर्णन कहीं साधारणतम तो कहीं थोड़े विस्तार के साथ मिलता है। भारतीय दर्शन के विचार चिरकाल से प्रचलित हैं, परन्तु वेदों का उद्देश्य वस्तुत: दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन करना नहीं था। वे धर्म के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं; किन्तु उनका उद्देश्य केवल धर्म का निरूपण करना भी नहीं था। वस्तुत: वह एक संपूर्ण वाङ्मय है। परवर्ती विचारकों ने अपनी रुचियों के अनुसार वेदों से मूल भावनाओं को लेकर उनका विकास किया। कर्म, उपासना और ज्ञान, वेदों में निहित इन मूल भावनाओं का विकास हम क्रमश: ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में पाते हैं। इन्हीं तीन भावनाओं के व्यापक रूप षड्दर्शन हैं। षड्दर्शनों में जिन विचारों की व्याख्या हुई है उनको दृष्टि में रखकर हम वेदों में दार्शनिक विचारों का अन्वेषण करें तो हमें लगता है कि वेदों के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि अदृष्ट शक्ति का चिन्तन किया है वही दर्शनों की प्रेरणा, उद्‌गम तथा केन्द्र है।[37]

एक बात अवश्य है कि दार्शनिक विचारधारा का वर्गीकरण हमें नहीं मिलता। शायद उस समय उसकी आवश्यकता ही नहीं थी ! भारतीयों का जीवन ही दार्शनिक है, यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। दोनों का उद्देश्य और चरम लक्ष्य तक पहुँचने का साधन भी एक ही है। हमारे वेदों में इस बात का वर्णन है कि शान्त रूप में भारतीय दर्शन-विचारधारा, या भारतीय जीवन-स्रोत, सभी परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए अविछिन्न रूप से अनादिकाल से बहती चली आती थी। ये सभी बातें हमें वेद के मन्त्रों में मिलती है।

1.2 मुख्य उपनिषदों में निरूपित दार्शनिक सिद्धांत :

भारतीय दर्शन में उपनिषदों के चिन्तन की गहरी छाप विद्यमान है। भिन्नार्थक रूप में कहें तो उपनिषद् भारतीय दर्शनशास्त्र के आधारस्तम्भ हैं। उपनिषदें मानव जीवन के सभी आधारभूत विषयों को अपने में समाह्यत करती है। इस अर्थ में ये भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। उपनिषदें वह नींव हैं, जिस पर करोड़ों मनुष्यों के विश्वास दृष्टिगत होते हैं। वेदाध्ययन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मलोकनिवासिनी भगवती ब्रह्मविद्या को इस भूलोक पर अवतार धारण करने की इच्छा हुई। पितामह ब्रह्माजी की अनुज्ञा और भगवती सरस्वती की

---

36 बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.3.6

37 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.30

स्वीकृति से भगवती ब्रह्मविद्या पृथ्वीलोक पर अवतरित होने के लिए कृत-संकल्प हुई। भगवती ब्रह्मविद्या भारतवर्ष के ऋषियों की चेतना में प्रवाहित होकर वाक्-स्वरूप धारण कर अभिव्यक्त हुई। ऋषियों ने उनके वाक्-स्वरूप को 'उपनिषद्' नाम दिया। उपनिषद् ब्रह्मविद्या अर्थात् अध्यात्मविद्या का वाक्-स्वरूप, शब्ददेह है।

दार्शनिक ग्रन्थों के रूप में उपनिषदें विश्व की श्रेष्ठतम रचनाएँ मानी जाती हैं। इन्होंने भारतीय संस्कृति के विकास में काफी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल विचारों पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्टत: दृष्टिगत होता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का स्रोत उपनिषद् है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त आदि आस्तिक मत तथा जैन और बौद्ध आदि नास्तिक मत के प्राय: सभी मुख्य सिद्धांत उपनिषदों में निहित हैं।

भारतीय दर्शन में उपनिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राय: आस्तिक दर्शन या नास्तिक दर्शन ने किसी-न-किसी रूप में मानवमात्र को प्रभावित किया है। उपनिषदों से न केवल भारतीय दर्शन वरन् हिन्दू धर्म भी अत्यन्त प्रभावित है। श्रीमद् भगवद्गीता जैसा हिन्दुओं का ग्रन्थ तो उपनिषदों से इतनी मात्रा में प्रभावित है कि इसे उपनिषदों का निचोड़ कह दिया जाता है। इन उपनिषद-ग्रन्थों में आवश्यकता से अधिक संख्या में गूढ़ विचार भरे हुए हैं; अत्यधिक संख्या में सम्भावित अर्थ भरे पड़े हैं; ये कल्पनाओं और वितर्कों की समृद्ध खान हैं; इसलिए यह आसानी से समझा जा सकता है कि किस प्रकार भिन्न उपनिषदें एक ही उद्गम स्थान से प्रेरणा प्राप्त कर सकी होंगी। उपनिषदों के गंभीर अध्ययन से इतना तो पता चल ही जाता है कि यह हम भारतीयों की अमूल्य धरोहर है, इसका समुचित अध्ययन व प्रयोग हमें जीने की कला सिखाती है।

प्राणियों के बाह्य अर्थों का प्रकाश करने वाली तथा नाना प्रकार से उपकार करने वाली अनेक विद्याएँ हैं; परन्तु परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाली, परमार्थ को दिखलाने वाली तथा परम उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। जिससे तत्त्वजिज्ञासु पुरुषों को परम शांति प्राप्त होती है, वह परमार्थ कहलाता है। क्लेशग्रस्त जीवों के समस्त क्लेशों का निवारण जिससे हो, वह परम उपकार कहलाता है।[38] हमारी मूल धरोहर वेदों व उपनिषदों के साथ जुड़ी हुई है। हर युग में विद्वानों ने उपनिषदों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह प्रशंसा वेदों-उपनिषदों के महत्त्व की ओर इशारा करती है। इनमें ज्ञान का खज़ाना बेशूमार भरा पड़ा है। न

38 उपनिषद्-अंक, सं०-2068 (गीता प्रेस गोरखपुर), पृ.9

केवल भारतीय विद्वानों[39] ने वरन् विदेशी विद्वानों[40] ने भी इनका मुक्त कण्ठ से गुणगान किया है। भारतीय विद्धान उपनिषदों के ज्ञानार्क को भलीभाँति समझते हैं, तो विदेशी विद्वान भी उपनिषदों की महत्ता को कम नहीं आँकते। उपनिषदों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ०राधाकृष्न ने कहा है-''उपनिषदें अपनी स्थापनाओं को आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित करती हैं, इसलिए वे हमारे लिए अमूल्य हैं, क्योंकि आस्था के परम्परागत अवलम्ब-अचूक शास्त्र, दैवी चमत्कार और भविष्यवाणी आदि-आज उपलब्ध नहीं हैं। आज जो धर्मविमुखता है, वह बहुत हद तक आध्यात्मिक जीवन पर धार्मिक रीति-पद्धति के हावी हो

---

39 ''हम भारतीय यदि अपने राष्ट्रीय अस्तित्व और स्वरूप को कायम रखना चाहते हैं, तो हमारे लिए उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है। ++ ++ ++ उपनिषदें व्यवस्थित चिन्तन से अधिक आत्मिक आलोक के साधन हैं। ये हमारे आगे अमूर्त दार्शनिक पदार्थों का संसार नहीं, अपितु अमूल्य और अनेक प्रकार के आत्मिक अनुभव का संसार उद्घाटित करती हैं।''

-डॉ०राधाकृष्णन

''उपनिषद् ही हमें ऐसी दृष्टि दे सकते हैं जो मानव की दार्शनिक, वैज्ञानिक और धार्मिक माँगों की एक साथ पूर्ति कर सकें।''

-प्रो०रानाडे

''मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है, वह तो उसी का है, लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषदें माँ की माँ है।''

-विनोबा भावे

''मैं उपनिषद् पढ़ता हूँ तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान ज्ञान है ! हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें। उपनिषदें शक्ति की खानें हैं।''

-स्वामी विवेकानन्द

40 ''मेरी आत्मा को इस जीवन में उपनिषदों से ही शान्ति मिली है और मैं आशा करता हूँ कि मृत्यु के बाद भी मुझे इन्हीं से शान्ति मिलेगी।''

-शॉपनहावर

''जैसी शान्तिमयी विद्या मैंने उपनिषदों में पाई वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।''

-डेविड ह्यूम

''आत्मविद्या के बहुत-से ग्रन्थ मैंने पढ़े हैं, पर परमात्मा की खोज की प्यास केवल उपनिषदें ही बुझा पाईं। इससे शाश्वत शान्ति और सच्चे आनंद की प्राप्ति होती है।''

-दारा शिकोह

''मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयार रहने और सत्य के इच्छुक जिज्ञासु के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ मार्ग मुझे दिखाई नहीं देता। उपनिषद् के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में अभूतपूर्व सफलता मिली है।''

-प्रो०मैक्समूलर

जाने का परिणाम है। उपनिषदों के अध्ययन से धर्म के उन मूल तत्त्वों को, जिनके बिना धर्म का कोई अर्थ ही नहीं रहता, सत्य के रूप में पुन: प्रतिष्ठित करने में सहायता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त, एक ऐसे समय में जब नैतिक आक्रमण लोगों को विचित्र जीवन-प्रणालियों के आगे आत्म समर्पण करने को बाध्य कर रहा है, जब प्राणों और यातना की भारी कीमत चुकाकर सामाजिक ढाँचे और राजनीतिक संगठन में विराट प्रयोग किए जा रहे हैं, जब हम हतबुद्धि और भ्रान्त होकर भविष्य के सम्मुख खड़े हैं और हमें राह दिखाने वाला कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं है, तब मानव-आत्मा की शक्ति ही एकमात्र शरण रह जाती है। यदि हम उसी के द्वारा शासित होने का संकल्प कर लें, तो हमारी सभ्यता अपने सबसे शानदार युग में प्रवेश कर सकती है।''[41]

वेद मूलत: अपौरुषेय है, यह मानवीय रचना नहीं है। *'ऋषय: मंत्रद्रष्टा:।'* अर्थात् ऋषि वेदमंत्रों के दृष्टा हैं। वेद तो मूलत: एक ही है, परन्तु वेद व्यास जी ने मंत्रों के स्वरूप और विषय के अनुरूप चार वेदों-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में संपादित किया है। महान भाष्यकार श्री सायणाचार्य वेद के संदर्भ में *'मंत्रब्राह्मणात्मको वेद:।'* कहकर वेद का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। यजुर्वेद की दो संहिताएँ है, यथा-शुक्ल यजुर्वेद संहिता और कृष्ण यजुर्वेद संहिता । इस आधार पर चतुर्वेद की पाँच संहिताएँ विद्यमान है। यह संहिताएँ वेद का मंत्रभाग है। इन संहिताओं के आधार पर जिन ग्रंथों की रचना हुई, उसे ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणग्रंथों को वेद का ही भाग माना जाता है। वेद के मंत्र को 'ब्रह्म' कहा जाता है। मंत्र सम्बन्धित जो लिखा गया उसे 'ब्राह्मण' कहा गया । वास्तव में ब्राह्मणग्रंथ वेद की संहिताओं अर्थात् मंत्रभाग पर लिखे गए एक विशिष्ट प्रकार के प्रथम भाष्य है। ब्राह्मणग्रंथ वेदमंत्रों के अर्थ, उसका विनियोग, तत्सम्बन्धी आख्यायिकाएँ, यज्ञ के अनेकविध प्रयोग, उपासना की विभिन्न पद्धतियाँ, चिंतन, दर्शन आदि अनेकविध तत्त्वों से भरपूर महाग्रंथ हैं। वेद के चार भाग बताये जाते हैं-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् । संहिता आदि भागों में कर्म, उपासना आदि मार्गों का उल्लेख हुआ है। उपनिषद् में केवल ज्ञान का ही प्रतिपादन है। अतएव उपनिषद्-विद्या अन्य विद्याओं की अपेक्षा प्रधानतम एवं गौरवमयी है। इसी विद्या को लक्ष्य करके कहा जाता है कि *'सा विद्या या विमुक्तये'* (वही वास्तविक विद्या है, जो मोक्ष दिलाने में सहायक हो ।)[42]

---

41 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.9

42 उपनिषद्-अंक, सं०-2068 (गीता प्रेस गोरखपुर) पृ.13

चारों वेद-संहिताएँ मूल वेद हैं । वेदों के व्याख्यात्मक ग्रन्थ ब्राह्मण माने जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भाग हैं-1. शुद्ध ब्राह्मण-जिनमें वेद मंत्रों की व्याख्या तथा कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है, 2. आरण्यक-जिनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन पाया जाता है। इसी चिन्तन का चरमोत्कर्ष आरण्यक ग्रन्थों के उपनिषद् खण्ड में पाया जाता है। प्रत्येक ब्राह्मण के अन्त में आरण्यक परिशिष्ट के रूप में जुड़ा हुआ है तथा साधारणत: प्रत्येक आरण्यक के अन्त में उसका उपनिषद् सम्बद्ध है।[43] ब्राह्मण ग्रंथों के अंतिम और साररूप भाग को आरण्यक कहा जाता है। आरण्यक वस्तुत: ब्राह्मणग्रंथों के प्रकरण हैं। इसी प्रकार से आरण्यक ग्रंथों के अंतिम और साररूप भाग को उपनिषद् कहा गया है अर्थात् उपनिषद् आरण्यक के अंतिम प्रकरण हैं। उपनिषदें दर्शन, चिंतन और अध्यात्मविद्या के अक्षय भण्डार हैं। अध्यात्मपथ के तीन सोपान हैं। कर्मकांड का विवरण ब्राह्मणग्रंथों में, उपासनाकांड का आलेखन आरण्यकों में और ज्ञानकांड का विवरण उपनिषदों में मिलता है। इस दृष्टि से उपनिषद स्वतंत्र ग्रंथ नहीं हैं, परंतु अवश्य ही वे किसी न किसी बड़े ग्रंथों के प्रकरण हैं। ''ब्रह्मचारी सूक्तों का पाठ करता है, गृहस्थ ब्राह्मणों पर ध्यान देता है जिनमें नित्यकर्मों और यज्ञ आदि अनुष्ठानों की चर्चा है, वानप्रस्थ आरण्यकों पर विचार-विमर्श करता है, और सन्यासी, जो सांसारिक आसक्ति का त्याग कर चुका है, उपनिषदों का अध्ययन करता है, जिनमें विशेष रूप से दार्शनिक चिंतन है।''[44]

'उपनिषद्' शब्द के वास्तविक अर्थ को लेकर प्राच्यविद्या के शोधकर्ताओं में पर्याप्त मतभेद रहा है। पाश्चात्य विद्वानों की तरह ही आधुनिक भारतीय-प्राच्यविद्या विद्वानों में भी मतैक्य नहीं है। देखने वाली बात यह है कि प्राचीन भारतीय टीकाकारों ने इस शब्द के अर्थ को इसके अभिप्राय के आधार पर ग्रहण किया था, इसके विपरित आधुनिक विद्वान इसको व्युत्पत्ति के आधार पर समझने में प्रवृत्त हुए हैं। मानक हिन्दी कोश के आधार पर उपनिषद् शब्द की रचना उप-नि√सद् (गति आदि) +क्विप् अथवा √सद् +णिच् +क्विप् प्रत्यय के योग से हुई है। 1. किसी के पास बैठना । 2. ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए गुरु के पास जाकर बैठना । 3. वेदों के उपरांत लिखे गये वे ग्रन्थ जिनमें भारतीय आर्यों के गूढ़ आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचार भरे हैं। 4. वेदव्रत ब्रह्मचारी के संस्कारों में से एक जो केशान्त संस्कार के पूर्व होता था । 5. धर्म । 6. निर्जन स्थान ।[45] 'सद्' धातु के अनेक अर्थ मिलते हैं-विशरण (विनाश), गति (ज्ञान, प्राप्ति) और अवसान (शिथिलता, समाप्ति) आदि उसके कई अर्थ

43 डॉ.कपिला शर्मा : छान्दोग्योपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन से उद्धृत, पृ.3

44 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.48

45 सं.रामचन्द्र वर्मा-मानक हिन्दी कोश पहला खण्ड, पृ.362

हैं। इन सभी शब्दों की संगति 'उपनिषद्' शब्द के साथ भली-भाँति बैठ जाती है। इस दृष्टि से 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ हुआ : जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती हैं, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद्-विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है।[46]

उपनिषद् साहित्य आदिकाल से विकसित होता रहा है। उपनिषदों की संख्या को लेकर भी पर्याप्त मत-वैभिन्य रहा है। इनकी संख्या 200 से अधिक मानी जाती है, परन्तु भारतीय परम्परा 108 ही उपनिषदें मानती है। कर्नल जैकब उपनिषद् वाक्य महाकोष में 56 उपनिषदों की सूची देते हैं।[47] गुजराती प्रिन्टींग प्रेस, बम्बई से सन् 1940 ई. में मुद्रित और गजानन शम्भु साधले द्वारा सम्पादित 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोष' में 223 उपनिषदों के वाक्य संग्रहित किए गये हैं। निर्णय सागर बम्बई से सन् 1948 ई. में उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें 120 उपनिषदों का समावेशन था। अडियार लाइब्रेरी मद्रास से 179 उपनिषदें प्रकाशित हुई हैं। इसके अलावा गीता प्रेस, गोरखपुर से सं०2068 में पुनर्मुद्रित कल्याण के उपनिषद्-अंक में 220 उपनिषदों की सूची दी गई है।[48] उपनिषत्संग्रह में 188 उपनिषदों का संग्रहण हुआ है।[49] मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों का वर्णन मिलता है।[50] इसी उपनिषद् के 1/30-39 श्लोकों में 108 उपनिषदों की सूची भी दी गई है।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान वैदिक शोध संस्थान, होंशियारपुर से सन् 1972 ई. में 'उपनिषदुद्धारकोष' प्रकाशित हुआ, जिसमें 75 उपनिषदों से उद्धरण दिए गये हैं। गैरोला जी 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोष' का संदर्भ देते हुए उपनिषदों की कुल संख्या 223 और प्रमुख उपनिषदों की संख्या 12 बताते हैं, यथा-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्य, कौषीतकी और श्वेताश्वर।[51] डॉ.कपिला शर्मा कुल उपनिषदों की संख्या 108 और शङ्कराचार्य की उपनिषद् टीका का सहारा लेकर मुख्य

46 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.38

47 G.A.Jacob : A Concordance to the Principal Upanishads and Bhagavatgita

48 उपनिषद्-अंक (गीता प्रेस गोरखपुर), पृ.155-158

49 सं.पं.जगदीश शास्त्री : उपनिषत्संग्रह (मोतीलाल बनारसीदास), विषयानुक्रमणिका से, पृ.vii -xi

50 सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम् ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघ निकृन्तनम् ।। - मुक्तिकोपनिषद् 1.44

51 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.39

उपनिषदों की संख्या 11 बताती हैं।[52] डॉ.शोभा निगम मुख्य उपनिषदों की संख्या 10 बताती हैं।[53] पातंजलयोगप्रदीप में मुख्य उपनिषदें 11 बताई गई हैं।[54] डॉ०राधाकृष्णन मुख्य उपनिषदों की संख्या 10 मानते हैं।[55] आचार्य शङ्कर ने 12 उपनिषदों पर अपना वक्तव्य दिया है, (किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा नृसिंह पूर्वतापनीय इन दो उपनिषदों का भाष्य विवादास्पद माना जाता है) इस कारण 10 ही उपनिषदों पर शाङ्करभाष्य उपलब्ध है। वे उपनिषद् हैं-(1) ईश (2) कठ (3) केन (4) प्रश्न (5) मुण्डक (6) माण्डूक्य (7) तैत्तिरीय (8) ऐतरेय (9) छान्दोग्य एवं (10) बृहदारण्यक।[56] आचार्य शङ्कर ने प्रस्थानत्रयी अर्थात् ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् पर भाष्य लिखा है। सभी विद्वानों के मतों का आकलन यही सिद्ध करता है कि मुख्य उपनिषदें 10 हैं, और खासकर इन्हीं उपनिषदों का विशेष मात्रा में अध्ययन-विश्लेषण होता है।

भारत का प्राय: समूचा प्रारंभिक वाङ्मय ही क्योंकि अज्ञात लेखकों की रचना है, इसलिए हमें उपनिषदों के रचयिताओं के नाम भी ज्ञात नहीं हैं। उपनिषदों के कुछ मुख्य विचार आरुणि, याज्ञवल्क्य, बालाकि, श्वेतकेतु, शांडिल्य जैसे सुप्रसिद्ध ऋषियों के नामों से जुड़े हैं। वे सम्भवत: उन विचारों के, जो उनके बताये गए हैं, प्रारंभिक व्याख्याता थे। इन शिक्षाओं का विकास 'परिषदों' में हुआ था, जहाँ गुरु और शिष्य विभिन्न मतों पर विचार-विमर्श कर उनकी व्याख्या किया करते थे। वेद का एक भाग होने से उपनिषदों का सम्बन्ध श्रुति या प्रकट हुए साहित्य से है। ये सनातन कालातीत हैं। ऐसा कहा जाता है कि इनमें निहित सत्य ईश्वर के मुख से निकले हैं या ऋषियों द्वारा देखे गए हैं। ये उन महात्माओं के वचन हैं जो अपने पूर्ण ज्ञानोद्दीप्त अनुभव के आधार पर बोलते हैं।[57]

'उपनिषद्' वेद के ज्ञानकाण्ड के अंतर्गत हैं। उपासना के लिए भी किसी-किसी उपनिषद् में उपदेश है, किन्तु वह ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का परिचय देने के लिए है। उपनिषदों में बिना किसी क्रम के दार्शनिक विचार भरे हैं। इन्हीं को मूल मानकर बाद के ज्ञानियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से दार्शनिक शास्त्र बनाये। 'बादरायण-सूत्रों' का तो आधार साक्षात् उपनिषद् ही है। प्रत्येक सूत्र एक-एक उपनिषद्-वाक्य का संक्षिप्त रूप है।

---

52 डॉ.कपिला शर्मा : छान्दोग्योपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन, भूमिका से, पृ.i

53 शोभा निगम : भारतीय दर्शन, पृ.37

54 पातंजलयोगप्रदीप (गीता प्रेस गोरखपुर), प्रकाशन सं०2043, पृ.23

55 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.18

56 डॉ.रानी दाधीच : भारतीय दर्शनों की शास्त्रार्थ पद्धति, पृ.33

57 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.19

यही कारण है कि बादरायण-सूत्र, 'वेदान्त-सूत्र' तथा उसके आधार पर रचा गया 'वेदान्त-दर्शन' कहलाता है और इसीलिए उपनिषद् को भी 'वेदान्त' कहते हैं। चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन का भी मूल तत्त्व उपनिषदों में है। उन्हीं के आधार पर अपने-अपने दार्शनिक विचारों को विद्धानों ने पल्लवित किया, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भिन्न-भिन्न दर्शन ज्ञान के भिन्न-भिन्न सोपान हैं और उपनिषद् ज्ञान का भण्डार है। अतएव जितने प्रसिद्ध दर्शन हैं एवं अन्य भी जो बनाये जा सकते हैं, सभी के मूल तत्त्व इन्हीं उपनिषदों में बिखरे हुए मिल सकते हैं।[58]

पुनरुक्ति दोष से बचने हेतु हम यहाँ सिर्फ मुख्य उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक सिद्धांतों का विश्लेषण न करते हुए अगले पृष्ठों में उसका संक्षेप में विवरण दे रहे हैं-

1.2.1 मुख्य उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व निरूपण :

उपनिषदों के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्म का तात्पर्य परमतत्त्व, परमज्योति, चरम सत्य, मूलतत्त्व आदि एक ही तत्त्व के द्योतक शब्द हैं। जगत् के मूल में ब्रह्म ही है। वह न केवल जड़ जगत् का वरन्, चेतन आत्मा का भी आधार है। ब्रह्म *'सत्यस्य सत्यम्'* और *'ज्योतिषाम् ज्योति'* है। उपनिषदों में इस ब्रह्म की-परमतत्त्व की जिज्ञासा जगह-जगह पर देखी जा सकती है। उपनिषद् के ऋषि बार-बार यही प्रश्न उठाते हैं कि वह कौन-सा तत्त्व है जिसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। जिससे सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है तथा अंततः जिसमें लय को प्राप्त होता है, वह कौन-सा तत्त्व है ? वह कौन-सी शक्ति है ? जिसके कारण हमारी सभी कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं ? इस तरह के सर्वशक्तिमान परमतत्त्व की खोज वैदिक संहिता एवं ब्राह्मणों के ऋषियों ने कर ही दी थी, परन्तु उपनिषद् के ऋषि इस अधीश्वर-परमतत्त्व की विवेचना में पूर्ण ध्यान लगाते दृष्टिगत होते हैं।

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत् स्वरूप है। वह सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त और शुद्ध चैतन्य है। उसी से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, उसी से इसमें स्थिरता है और यह उसमें ही विलय हो जाता है। संपूर्ण प्रकृति और प्राकृतिक शक्तियाँ उसी का अंश मात्र है। वह सत्य और अनन्त है। वह शब्द, स्पर्श, रूप आदि से रहित, अक्षय, अरस, नित्य और गन्धरहित है। वह आदि-अंतहीन और ध्रुव है। इस नाना रूपात्मक जगत् के पहले सत् शब्द वाच्य, अव्याकृत, ब्रह्मरूप ही था। वह एकमात्र अद्वितीय था; अर्थात् सजातीय, सर्वगत तथा

58 डॉ.उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ.57-58

विजातीय भेदों से रहित था। यह विश्व ब्रह्म ही है। यह सब कुछ आत्मा ही है। सब प्राणियों के भीतर वही छिपा है, वह ब्रह्म तू ही है।

ईशावास्योपनिषद् में बताया गया है कि जगत् में जो कुछ स्थावर-जंङ्गम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। (अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए)। यहाँ ब्रह्म का ईश्वरीय रूप द्योतित है।[59] जो ईशन (शासन) करे उसे ईट् कहा जाता है, उसका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। सबका ईशन करने वाला परमेश्वर परमात्मा है। वही सब जीवों का अन्तर्यामी रूप से शासन करता है। मुण्डकोपनिषद् में अविनाशी और निराकार ब्रह्म का वर्णन है।[60] उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन है-सविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों भावों में भेद निर्देश करने के अभिप्राय से निर्विशेष भाव को कहीं 'पर ब्रह्म' कहा गया है और सविशेष भाव को कहीं 'अपर ब्रह्म' तथा कहीं 'शब्द ब्रह्म' कहा गया है। कठोपनिषद् में अक्षर को ही अपर ब्रह्म और पर ब्रह्म कहा गया है। इस अक्षर को ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है।[61] यदि उसका उपास्य 'पर ब्रह्म' हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि 'अपर ब्रह्म' हो तो प्राप्त किया जा सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया गया है। ये दो रूप हैं-मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्। पञ्चभूतजनित देह और इन्द्रियों से सम्बद्ध ब्रह्म दो रूपों वाला है। ब्रह्म समस्त उपाधिविशेषों से रहित, सम्यग्ज्ञान का विषय, अजन्मा, अजर, अमर, अभय, वाणी और मन का भी अविषय है तथा अद्वैत होने के कारण उसे 'नेति-नेति' कह दिया जाता है, यथा-*'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयँ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।'*[62] ऐतरेयोपनिषद् में प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा का वर्णन मिलता है। सबको (मनुष्य मात्र को) उत्पन्न करके सर्व प्रकारेण शक्ति प्रदान करने वाले और उनकी रक्षा करने वाले स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही उपास्य देव हैं। ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही इन्द्र हैं। ये ही सबकी उत्पत्ति और पालन करने वाले समस्त प्रजाओं के स्वामी प्रजापति हैं। ये सब इन्द्रादि देवता, ये पाँचो महाभूत-जो पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज के रूप में प्रकट हैं तथा ये छोटे-छोटे मिले

---

59 ॐ ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। -ईशावास्योपनिषद् 1.1

60 यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।। -मुण्डकोपनिषद् 1.1.6

61 कठोपनिषद्, 1.2.16

62 बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.25

हुए से बीजरूप में स्थित समस्त प्राणी; तथा उनसे भिन्न दूसरे भी-अर्थात् अंडे से उत्पन्न होने वाले, जेर (जरायुज) से उत्पन्न होने वाले, पसीने से अर्थात् शरीर के मेल से उत्पन्न होने वाले और जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले तथा घोड़े, गाय, हाथी, मनुष्य-ये सब मिलकर जो कुछ यह जगत् है; जो भी कोई पंखों वाले तथा चलने-फिरने वाले और नहीं चलने वाले जीवों के समुदाय हैं-वे सब-के-सब प्राणी प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा से शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्य में समर्थ होते हैं और उन प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा की शक्ति से ही ज्ञान-शक्तियुक्त है। इसकी स्थिति के आधार, प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हैं। अत: जिनको पहले इन्द्र और प्रजापति के नाम से कहा गया है, जो सबकी रचना और रक्षा करने वाले तथा सबको सब प्रकार की शक्ति देनेवाले प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं, वे ही हमारे उपास्यदेव ब्रह्म हैं।[63]

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म की पहचान इस रूप में करायी गई है कि वरुण के पुत्र भृगु जब अपने पिता से ब्रह्म का ज्ञान देने की बिनती करता है, तब उपदेशात्मक रूप में उसे उत्तर मिलता है-जिनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोग से, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं-जीवनोपयोगी क्रिया करने में समर्थ होते हैं और महाप्रलय के समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, वे ही ब्रह्म हैं।[64] केनोपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय 'परब्रह्मतत्त्व' बहुत ही गहन है। अत: उसे भलीभाँति समझाने के लिए गुरु-शिष्य-संवाद प्रयुक्त हुआ है। 'जो श्रोत्र का भी श्रोत्र है' शब्दों के द्वारा संकेत है कि जो इन मन, प्राण और सम्पूर्ण इन्द्रियों का-समस्त जगत् का परम कारण है, जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं, जिसकी शक्ति को पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं और जो इन सबको जानने वाला है; वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही इन सबका प्रेरक है। उसे जानकर ज्ञानीजन जीवनमुक्त होकर इस लोक से प्रयाण करने के अनन्तर अमृतस्वरूप-विदेहमुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्यु से सदा के लिए छूट जाते हैं। 'परब्रह्म' के बारे में और आगे बताया गया है कि उन सच्चिदानंदस्वरूप को प्राकृत अन्त:करण और इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। ये वहाँ तक पहुँच ही नहीं पातीं। उस अलौकिक दिव्य तत्त्व में इनका प्रवेश ही नहीं हो सकता। बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्म की प्रेरणा से और उसकी शक्ति से ही होती है। ऐसी अवस्था में कोई मन-इन्द्रियों से कैसे बता पाये कि ब्रह्म ऐसा है ! इस बात को हम न तो स्वयं जान सकते हैं; और न ही दूसरों के द्वारा जाना जा सकता है। महापुरुषों की वाणी बताती है कि 'परब्रह्म' जड़-चेतन दोनों से ही भिन्न है। वह क्षर से सर्वथा भिन्न और अक्षर से उत्तम है।[65]

63 ऐतरेयोपनिषद्, 3.1.3

64 तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.1

65 केनोपनिषद्, 1.2 एवं 1.3

माण्डूक्योपनिषद् बताया गया है कि यह (ब्रह्म) सर्वेश्वर हैं। वे सर्वज्ञ हैं। वे सबके अन्तर्यामी हैं। ये ही सम्पूर्ण जगत के कारण हैं। प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्थान भी ये ही हैं।[66] प्रश्नोपनिषद् में ओंकार के माध्यम से इस परब्रह्म की व्याख्या की गई है। 'ओम्' और 'परब्रह्म' की एकता प्रस्थापित करते हुए स्पष्ट किया गया है कि ॐ और लक्ष्यभूत परब्रह्म परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इसलिए यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्म से प्रकट हुआ उनका विराट-स्वरूप-अपर ब्रह्म भी है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला मनुष्य इस एक ही अवलम्ब (प्रणवमात्र के चिन्तन से) अपर और परब्रह्म में से किसी एक का अनुसरण करता है।[67] छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन सगुण रूप में किया गया है। यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होने वाला, उसीमें लीन होने वाला, और उसीमें चेष्टा करने वाला है। इस प्रकार शान्त होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय-निश्चयात्मक है; इस लोक में पुरुष जैसे निश्चय वाला होता है वैसा ही यहाँ से मृत्यु के बाद जाने पर होता है। अतः उस पुरुष को निश्चय करना चाहिए।[68] इसी उपनिषद् में ब्रह्म शब्द का विभिन्न रूप से प्रयोग मिलता है, जैसे-*यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते*[69], *मनो ब्रह्मेत्युपासीते*[70], *यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते*[71], *यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते*[72], *आदित्योब्रह्मेत्यादेश*[73], *आकाश ब्रह्म*[74]। श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि ब्रह्म का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि वह (ब्रह्म) हाथ पाँव से रहित होकर भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है। वह संपूर्ण वेद्यवर्ग को जानता है, परन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है। वह सबका आदि, पूर्ण एवं महान है।[75]

उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के मुख्यतः दो रूप दृष्टिगत होते हैं, यथा-

(1) पर ब्रह्म,

(2) अपर ब्रह्म।

---

66 माण्डूक्योपनिषद्, 1.6

67 प्रश्नोपनिषद्, 5.2

68 छान्दोग्योपनिषद्, 3.14.1

69 वही, 7.4.3

70 वही, 3.18.1

71 वही, 7.2.2

72 वही, 7.1.5

73 वही, 3.19.1

74 वही, 3.18.1

75 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3.19

पर ब्रह्म असीम, निर्गुण, निर्विशेष, निष्प्रपञ्च, अमूर्त्त, स्थिर है; जबकि अपर ब्रह्म ससीम, सगुण, सप्रपञ्च, मूर्त्त, अस्थिर है। पर ब्रह्म को 'नेति नेति' कहकर पुकारा गया है, जबकि अपर ब्रह्म को 'इति इति' कहकर पुकारा गया है। पर ब्रह्म निर्गुण होने के कारण उपासना का विषय नहीं है, लेकिन अपर ब्रह्म सगुण होने के कारण उपासना का विषय है। पर ब्रह्म को 'ब्रह्म' (Absolute) और अपर ब्रह्म को 'ईश्वर'(God) कहा गया है। मूलत: पर ब्रह्म व अपर ब्रह्म दोनों एक ही ब्रह्म के दो पक्ष हैं।

1.2.2 मुख्य उपनिषदों में आत्मतत्त्व निरूपण :

उपनिषदें आत्मतत्त्व का विशदता से वर्णन करती हैं । संसार की समस्त वस्तुओं का सार आत्मा ही है। उपनिषदों में आत्मतत्त्व अजर, अमर, चैतन्य व निर्विकार रूप में निर्देशित है। जिसे हम 'मैं' कहते हैं, उससे यह सर्वथा पृथक् तत्त्व है। मनुष्य के भौतिक शरीर में रहते हुए भी वह मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों से भी पृथक् है। यह जगत् वही नहीं है जो वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से हमारी इन्द्रियाँ हमें दिखाती हैं। हमें केवल प्रभु के अंतरंग का ही नहीं, बल्कि मानव के अंतर्जगत् का भी ज्ञान होना चाहिए । उपनिषद् की शिक्षा 'आत्मा को जानो' *(आत्मानं विद्धि)*, यूनानियों का आदेश 'अपने को जानो' सब आत्मज्ञान की महत्ता प्रदर्शित करते हैं।[76] उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुआ है। ऋग्वेद में 'आत्मा' का अर्थ प्राण अथवा जीवनाधार (आध्यात्मिक सत्त्व) के रूप में आलेखित है।[77]

डॉ.राधाकृष्णन के अनुसार-आत्मा मनुष्य के जीवन का तत्त्व है; यह वह आत्मा है जो उसकी सत्ता में, प्रज्ञा में व्याप्त है और उनसे परे है। जब प्रत्येक चीज, जो आत्मा नहीं है, नष्ट हो जाती है, आत्मा तब भी रहती है।[78] संहिताओं में 'ब्रह्मन्' शब्द आत्मा के बराबर माना गया है। पुरुष, हंस, सुपर्ण, अजोभाग, प्राण, जीव, सत्य, विश्वकर्मन्, बृहस्पति, प्रजापति और हिरण्यगर्भ ये सभी आत्मा के अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द हैं। परन्तु उपनिषदों में प्रमुख रूप से ब्रह्मन् पुरुष, हंस और कभी-कभी सुपर्ण, जीव, प्राण और सत्य शब्दों का प्रयोग भी आत्मा के लिए किया गया है।[79]

उपनिषदें आत्मा के स्वरूप का विवेचन बड़ी छान-बीन के साथ करती हैं। क्या आत्मा की सत्ता जीवनकाल तक ही सिमित है, या जीवन समाप्ति के बाद भी इसका अस्तित्व

---

76 डॉ.राधाकृष्णन : सत्य की खोज, पृ.72-73

77 ऋग्वेद, 10.16.3

78 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.75

79 डॉ.कपिला शर्मा : छान्दोग्योपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन से उद्धृत, पृ.115

कायम रहता है ? इसकी विवेचना कठोपनिषद् में बड़े सटिक ढंग से हुई है। नचिकेता इस समस्या का हल यमराज से पूछते हैं। यमराज बताते हैं कि मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है। आत्मा नित्य वस्तु है, वह न कभी मरता है, न कभी अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है। कठोपनिषद् कहती है-'मेघावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ (अर्थान्तिररूप से) बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता ।'[80] इसी उपनिषद् में और आगे लिखा है-'यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथस्वामी है।'[81] यमराज आत्मा को रथी कहकर आत्मा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा का सर्वाधिपतित्व और सर्वाश्रयत्व निरूपित किया गया है। वह यह आत्मा समस्त भूतों का अधिपति एवं समस्त भूतों का राजा है। इस विषय में दृष्टांत है-जिस प्रकार रथ की नाभि और रथ की नेमि में सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त प्राण और ये सभी आत्मा समर्पित हैं।[82] इसी उपनिषद् में आत्मा को विज्ञानमय ज्योति:स्वरूप एवं इस लोक तथा परलोक में संचरण करने वाला बताया गया है।[83] ईशावास्योपनिषद् में आत्मा के बारे में कहा गया है कि वह सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है।[84]

माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार आत्मा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से भिन्न तुरीय (चतुर्थ) है। वह न अन्त:प्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्बहि:)-प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। अपितु वह तो अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्च का उपशम, शान्त, शिव और अद्वैत रूप है। वही आत्मा जानने योग्य है।[85] छान्दोग्योपनिषद् में षोडशकल पुरुष (आत्मा), मुमुक्षु आत्मा, चित्त आत्मा, सेतुरूप आत्मा आदि का स्वरूप विस्तार से वर्णित है। श्वेतकेतु-आरुणि संवाद

---

80 न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नयं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। -कठोपनिषद् 1.2.18

81 आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरंरथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ।। -कठोपनिषद् 1.3.3-4

82 बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.5.15

83 वही, 4.3.7

84 ईशावास्योपनिषद्, 8

85 माण्डूक्योपनिषद्, मन्त्र-7

में जल और नमक के दृष्टांत द्वारा आत्मा की वैश्विक सर्वव्यापकता प्रस्तुत हुई है।[86] श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप कुछ इस प्रकार वर्णित है-वह (आत्मा) अंगूष्ठ के समान परिमाण वाला, सूर्य के समान ज्योति:स्वरूप, वह केश के अग्रभाग का सौवाँ भाग, वह (विज्ञानात्मा) लिंगहीन यानी न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।[87] आत्मा पूर्ण और अखण्ड है। यही कारण है कि सत्-असत्, छोटा-बड़ा, समीप-दूर, अन्त:-बहि:, आदि सभी विरुद्ध धर्मों का यह आधार है। इसके पूर्ण और अखण्ड होने के ही कारण समान या विरुद्ध धर्मों का इसमें कोई भी विचार नहीं हो सकता। अतएव सभी दर्शनकारों ने इसी परम तत्त्व को विभिन्न रूप में अपना-अपना मूल तत्त्व मानकर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रों की रचना की है।[88]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मूलत: आत्मा की तीन अवस्थाएँ जिनमें आत्मा का स्वरूप निहित् है; यथा-जागृति (विश्व), स्वप्न (तैजस) और सुषुप्ति (प्राज्ञ)। ये तीनों एक चौथी (तुरीय अवस्था) में सम्मिलित हैं। जाग्रत अवस्था में आत्मा स्थूल पदार्थों का सुखोपभोग करती है। यहाँ उसकी निर्भरता शरीर पर है। स्वप्नावस्था में आत्मा सूक्ष्म वस्तुओं का आनन्द लेती है। वह स्वेच्छा से शरीर के बन्धनों से मुक्त होकर इतस्तत: भ्रमण करती है। सुषुप्ति को ही गाढ़ निद्रा की अवस्था कहा जाता है। माना जाता है कि इस अवस्था में आत्मा कुछ समय के लिए ब्रह्म के साथ एकाकार की स्थिति प्राप्त कर लेती है। इन सब में चौथी (तुरीय) अवस्था को सर्वश्रेष्ठ माना जाएगा क्योंकि माण्डूक्योपनिषद् कहती है कि उच्चतम अवस्था यह स्वप्नरहित निद्रावस्था नहीं, किन्तु आत्मा की इससे भिन्न एक चौथी अवस्था है अर्थात् तुरीय अवस्था। वह विशुद्ध आन्तरिक चैतन्य की अवस्था है जिसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर किसी भी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। प्रगाढ़ निद्रा में मानवीय आत्मा एक ऐसे देश में ब्रह्म के संग निवास करती है, जो भौतिक इन्द्रियों के परिवर्तनात्मक जगत से दूर ऊपर है। तुरीय अवस्था प्रगाढ़ निद्रा के निषेधात्मक रूप को निर्विकल्प एवं भावनात्मक रूप प्रदान करती है। संसार की तमाम चीज-वस्तुओं में आत्मा को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। आत्मा के समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है। मनुष्य जब अन्त:करण की परिशुद्धि प्राप्त कर लेता है, तभी उसे आत्मा का ज्ञान होता है।

---

86 छान्दोग्योपनिषद्, 6.13.1-2

87 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 5.8-9-10

88 डॉ.उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ.58-59

उपनिषदों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा जीव-जगत का परिचालक अमरणधर्मा एवं चेतनसत्ता है, यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मों का कर्ता एवं सुखादि का भोक्ता है। आत्मा को अणु से अणु एवं बृहत् से बृहत् मानकर उसका स्थान हृदय स्वीकारा गया है।

1.2.3 मुख्य उपनिषदों में आत्मा के रूप में ब्रह्मतत्त्व निरूपण :

उपनिषद्-दर्शन में आत्मा और ब्रह्म के बीच तादात्म्य उपस्थित करने का भरपूर प्रयत्न किया गया है। आत्मा और ब्रह्म अभिन्न है। ब्रह्म ही आत्मा है। आत्मा और ब्रह्म का एकदूसरे का पर्याय माना गया है। इसीलिए उपनिषद् में आत्मा=ब्रह्म के द्वारा आत्मा और ब्रह्म के बीच तादात्म्यता को व्यक्त किया गया है। डॉ.दासगुप्ता ने कहा है-आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता में ही उपनिषद् शिक्षा का सारांश निहित है।[89] वेदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में आत्मा और ब्रह्म यह दोनों शब्द भिन्नार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं; परन्तु उपनिषदों में यह दोनों शब्द एकदूसरे के पर्यायवाची है। दोनों का यहाँ समन्वय स्थापित हुआ है। आत्मा और ब्रह्म के विवरण उपनिषद् में एक समान हैं। दोनों को चरमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। दोनों को सत् + चित् + आनन्द अर्थात् 'सच्चिदानन्द' माना गया है। दोनों को सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम् कहा गया है। दोनों को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् माना गया है। दोनों के आनन्दमय रूप पर जोर दिया गया है। दोनों को सभी ज्ञान का आधार बतलाया गया है। उपनिषदों का सिंहावलोकन यह प्रमाणित करता है कि आत्मा और ब्रह्म का वर्णन समानान्तर चलता है। आत्मा के जाग्रत अवस्था के तुल्य ब्रह्म का विराट् रूप है, स्वप्नावस्था के अनुरूप 'हिरण्यगर्भ' रूप है। सुषुप्ति के सदृश ईश्वर रूप है और तुरीयावस्था के अनुरूप पर ब्रह्म रूप है। विराट् ब्रह्म का विश्व में पूर्ण विकसित रूप है, जो जाग्रत आत्मा जैसा है। विश्व से पृथक् ब्रह्म का मौलिक रूप पर ब्रह्म है जो कि तुरीयावस्था के अनुरूप है। आत्मा तुरीयावस्था में अपनी सभी अभिव्यक्तियों से अलग है। उस अवस्था में विषयी (आत्मा) और विषय (ब्रह्म) एक ही हैं। डॉ.राधाकृष्णन लिखते हैं-''विषयी और विषय, ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय एवं आत्मिक दोनों ही तत्त्व एकात्म माने गये हैं, ब्रह्म ही आत्मा है।''[90]

उपनिषद् के स्मरणीय महावाक्य *'अहं ब्रह्मास्मि'*, *'तत्त्वमसि'* (छान्दोग्योपनिषद् 6.14.3), एवं *'अयमात्मा ब्रह्म'* (बृहदारण्यकोपनिषद् 2.5.19) आदि से आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता स्पष्ट होती है। इन दोनों की एकता के कारण ही उपनिषदें कहती हैं कि आत्म-ज्ञानी ब्रह्म की प्राप्ति करता है और मुक्त हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में आत्मा और ब्रह्म

---

89 ''The sum and substance of the Upnishad teaching is involved in the equation Ātman=Brahman.''
Dass Gupta- History of Indian Philosophy, Volume I Page-45

90 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-1, पृ.137

सख्यभाव से साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी (जीवात्मा-परमात्मा) एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं। उनमें एक तो (जीवात्मा) स्वादिष्ट पीप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा (परमात्मा) भोग न करके केवल देखता रहता है।[91] यह दृष्टांत आत्मा और ब्रह्म, जीव और शिव का स्वरूप तथा सम्बन्ध समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु के उपाख्यान द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'हे श्वेतकेतु ! वह यह जो अणुरूप है, यह सबकुछ तद्रूप है वह सत् है, वही आत्मा है, और हे श्वेतकेतु ! वही तू हैं *(तत्त्वमसि)*।'[92] इस कथन से ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य सिद्ध होता है। ईशावास्योपनिषद् कहती है जो दोनों में एकत्व देखता है वह शोक और मोह से मुक्त हो जाता है।[93] माण्डूक्योपनिषद् में अद्वैत प्रकरण के अंतर्गत आत्मा और ब्रह्म का अभिन्नत्व बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्म जिसका विषय है वह ज्ञान अजन्मा और नित्य है। उस आत्मस्वरूप अजन्मा ज्ञान से अजन्मा ज्ञेयरूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है।[94]

निष्कर्षत: कहें तो आत्मा और ब्रह्म वस्तुत: एक और अभिन्न है। इसलिए उपनिषद् में आत्मा और ब्रह्म के समीकरण में आत्मा व ब्रह्म को मान्यता दी गई है। आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषद् के विचारकों की महान देन है। वैदिक ऋषिओं ने जो असाधारण खोज की है वह यह है कि आत्मा ही ब्रह्म है। यह एकात्मकता का सिद्धांत उपनिषदों का विश्व की विचारधारा में उल्लेखनीय योगदान के रूप में देखा जा सकता है।

1.2.4 मुख्य उपनिषदों में जीवतत्त्व (प्राणतत्त्व) निरूपण :

उपनिषदों के निर्देश के अनुसार जीव और आत्मा में पर्याप्त भेद है। जीव वैयक्तिक आत्मा (individual self) है, जबकि आत्मा परम आत्मा (suprem self) है। जीव और आत्मा एक ही शरीर में अन्धकार और प्रकाश की तरह निवास करते हैं। जीव कर्म के फल का भोक्ता है और वह सुख-दु:ख का अनुभव करता है। जबकि आत्मा कूटस्थ है और वह सुख-दु:ख से परे, निर्लेप है। जीव अज्ञानी, पुण्य-पापों का भागी है, परन्तु आत्मा ज्ञानी और समस्त पुण्य-पापों से मुक्त है। आत्मा जीवात्मा में रहकर भी कर्मफल का उस पर कोई असर

---

91 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति ।। -मुण्डकोपनिषद् 3.1.1

92 छान्दोग्योपनिषद्, 6.14.3

93 ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र-7

94 माण्डूक्योपनिषद्, 3.33

नहीं होता, वह तो जीवात्मा-भोग का साक्षीमात्र है। पहले हम कह चुके हैं कि आत्मा और ब्रह्म अभिन्न हैं, वहाँ आत्मा और जीव भिन्नता लिए हुए हैं। विभिन्न शरीरों के आधार पर आत्मा से यह जीव विभिन्नरूपा है। जीव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से अलग है। कुछ उपनिषदें आत्मा और जीव के बीच का भेद बताती हैं, जैसे आत्मा और ब्रह्म (ईश्वर) को एक मानती हैं और जीव को उससे भिन्न माना है; परन्तु कुछ उपनिषदें यह भेद उल्लेखित नहीं करतीं।

जीवात्मा की चार अवस्थाएँ उपनिषदों में संकेतित है, यथा-जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था और तुरीयावस्था। जाग्रतावस्था में जीवात्मा 'विश्व' कहलाता है। वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों का भोग करता है। स्वप्नावस्था में जीवात्मा 'तैजस' कहलाता है। वह आन्तरिक सूक्ष्म वस्तुओं को जानता है और उनका भोग करता है। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा 'प्रज्ञा' कहलाता है। वह शुद्ध चित्त के रूप में विद्यमान रहता है। इस अवस्था में वह आन्तरिक या बाह्य वस्तुओं को नहीं देखता है। तुरीयावस्था में जीवात्मा को आत्मा कहा जाता है। वह शुद्ध चैतन्य है। तुरीयावस्था की आत्मा ही ब्रह्म है। प्रायः प्राण और जीव को समानार्थक यानी एक ही समझा जाता है।

छान्दोग्योपनिषद् कहती है-लोक में जिस प्रकार रथ के पहिए के अरे रथ की नाभि में समर्पित है, ठीक उसी प्रकार लिंग संघात रूप इस प्राण अर्थात् प्रज्ञात्मा में यानी दैहिक मुख्य प्राण में, जिसमें कि परादेवता के नामरूप की अभिव्यक्ति करने के लिए दर्पणादि में प्रतिबिम्ब के समान जीव रूप से प्रवेश किया। इसी प्राण से सारा जगत समर्पित है, प्राण ही प्राण के द्वारा गमन करता है। प्राण ही प्राण को देता है। प्राण के लिए देता है। प्राण ही पिता, माता, बहन, भ्राता, आचार्य और ब्राह्मण है।[95] यदि हम गौर करें तो समझ में आता है कि माता, पिता, भाई, बहन या अन्य पारिवारिक सम्बन्ध जब तक शरीर में जीव (प्राण) है; तब तक ही यह सम्बन्ध कायम है। शरीर से आत्मा निकल जाने के बाद उसकी पहचान जो अबतक सांसारिक बंधनो वाले जीवरूप में थी, वह आत्मा के रूप में ही रह जाती है।

डॉ.राधाकृष्णन लिखते हैं-''उपनिषदों का मत है कि सान्त पदार्थों की श्रेणी में जीवात्मा के अन्दर यथार्थ सत्ता का अंश सबसे उच्चकोटि का है। यह पर ब्रह्म के स्वरूप के सबसे अधिक निकट है, यद्यपि यह स्वयं पर ब्रह्म नहीं है। ऐसे भी परिच्छेद उपनिषदों में हैं जिनमें सान्त जीवात्मा का विश्व के प्रतिबिम्ब के रूप में प्रतिपादन किया गया है। समस्त संसार सान्त जीवात्मा के अनन्तता प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न की प्रक्रिया-स्वरूप है और

95 छान्दोग्योपनिषद्, 7.15.1

यही प्रसरणशील शक्ति जीवात्मा में पाई जाती है।''[96] तैत्तिरीयोपनिषद् में जीव के पाँच कोषों का वर्णन है। ये पाँच कोष जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर हैं। उनके नाम हैं : अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय।[97] अन्नमय कोष स्थूल शरीर में; प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोष सूक्ष्मशरीर में और आनंदमय कोष कारण शरीर में विद्यमान रहते हैं। अन्नमय कोष अन्तस्थ जीव का पहला द्वार है, जिसमें शरीर तथा इन्द्रियाँ रहती हैं और जो अन्न के द्वारा जीवित रहती हैं। प्राणमय कोष दूसरा द्वार है, जो अन्नमय कोष के अन्दर है और जिसमें प्राण शक्तियों का निवास है और जिसके द्वारा शरीर में गति उत्पन्न होती है। उसके भी भीतर मनोमय कोष हैं, जिसका अधिष्ठाता मन है और जो संकल्प-विकल्पों का घर है। मनोमय कोष के भीतर विज्ञानमय कोष है, जिसमें निवास करने वाली बुद्धि है और जो द्वैतभाव का कारण है। उसके भी भीतर अंत में आनंदमय कोष है, जिसमें जीवात्मा का अधिवास है, और जो आत्मा भी है तथा ब्रह्म भी। वह आनन्दमय है, निरपेक्ष है और सर्वज्ञ होने से दृष्टा भी है। जीव का लक्ष्य इसी तक पहुँचने का होता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जीव और आत्मा क्रमश: अंधकार और प्रकाश की भाँति एक ही गुफा में निवास करते हैं। जीव अनुभूतियुक्त और कर्मफलों के बन्धनों से जकड़ा हुआ है, किन्तु आत्मा अज, अनादि और नित्य है तथा कर्मबन्धनों से विमुक्त है। जीव का लक्ष्य होता है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और सारे बन्धनों तथा द्वैत भावनाओं को मिटाकर अद्वैत की ओर उन्मुख होना। उपनिषदों का आत्मा वस्तुत: ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु जीव कर्मबन्धनों के कारण जन्म-मृत्यु का ग्रास है।

1.2.5 मुख्य उपनिषदों में जगततत्त्व एवं सृष्टि-संरचना निरूपण :

उपनिषद् दर्शन में जगत् को सत्य माना गया है। इस जगत् के अस्तित्व का मूल कारण ब्रह्म है, क्योंकि वास्तव में जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसीसे पलता है और आखिरकार उसी में समा जाता है। उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति के मूल में अनेकानेक तत्त्वों पर विचार किया गया है। ग्रीक दार्शनिकों के समान उपनिषदें भी जल, वायु, अग्नि व आकाश को जगत् का मूल तत्त्व कहती हैं। कभी प्राण तो कभी काल और कभी असत् तत्त्व या सत् तत्त्व भी जगत् के मूल में देखे गये। कहीं पर ब्रह्म या ईश्वर को जगत् का कारण कहा गया। जगत् ईश्वर की, सक्रिय प्रभु की, रचना है। ससीम असीम का आत्म-परिसीमन है। कोई भी ससीम स्वत: अपने-आपमें नहीं रह सकता। वह असीम के

96 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-1, पृ.166

97 तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.1-2-3-4-5

द्वारा रहता है। यदि हम गतिशील पहलू को खोजते हैं तो हमारी प्रवृत्ति विशुद्ध चेतना के अनुभव को त्यागने की ओर हो जाती है। या तो विशुद्ध चेतना ही हो या गतिशील चेतना ही- यह बात नहीं है। एक ही सत्य की ये विभिन्न स्थितियाँ हैं । सर्वव्यापी चेतना में ये एक साथ उपस्थित हैं।[98]

उपनिषदों में जगत् को ब्रह्म का ही दूसरा रूप माना गया है। ब्रह्म अनंत है और जगत् उसका एक अंश है। ईश्वर पर जगत् की निर्भरता विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट की गई है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा गया है कि *'तज्जलानिति'* [99] अर्थात् तेज, अप् और अन्नादि क्रम से सारा जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह 'तज्ज' है तथा उसी जननक्रम के विपरित क्रम से उसमें ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्य रूप से उसमें मिल जाता है।

सृष्टि का वर्णन उपनिषदों में सादृश्यता एवं उपमाओं के बल पर किया गया है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, सोने से गहने बन जाते हैं, मोती से चमक उत्पन्न होती है, बाँसुरी से ध्वनि निकलती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है। मकड़ी की उपमा से भी जगत के विकास की व्याख्या प्रस्तुत हुई है, यथा-

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।। [100]

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्दर से तन्तु बाहर निकाल कर जाल बनाती है और बाद में उन तंतुओं को अपने में ही समेट लेती है; जिस प्रकार बिना यत्न पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती है और उसी में लीन हो जाती है; और जिस प्रकार बिना चेष्टा किये पुरुष के केश तथा लोम उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होती है। इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण माना गया है। उपनिषदों में कहीं भी विश्व को एक भ्रमजाल नहीं कहा गया है। उपनिषदों के ऋषिगण प्राकृतिक जगत् के अंदर जीवनयापन करते रहे और उन्होंने इस जगत् से दूर भागने का विचार तक नहीं किया। उपनिषद् में जगत् को कहीं भी निर्जन एवं शून्य नहीं माना गया है। अतः उपनिषद् जगत् से पलायन की शिक्षा नहीं देता।

ऐतरेयोपनिषद् में जगत् की उत्पत्ति के संदर्भ में कहा गया है कि सर्व प्रथम उस आत्मा (ब्रह्म) ने अम्भ, मरीचि, मर और आप् (जल) इन लोकों की रचना की। यहाँ महः, जनः,

---

98 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.84

99 छान्दोग्योपनिषद्, 3.14.1

100 मुण्डकोपनिषद्, 1.1.7

तप, सत्य और इनके आधार द्युलोक को 'अम्भः' कहा गया है। सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि किरणों वाले लोक ही अनतरिक्ष लोक हैं, जो 'मरीचि' नाम से अभिहित हैं तथा पृथ्वी लोक और पृथ्वी के नीचे स्थित पातालादि लोक क्रमशः 'मर' और 'आप्' नाम से संकेतित है। इन समस्त लोकों की सृष्टि के पश्चात् परब्रह्म (ईश्वर) ने जल आदि सूक्ष्म महाभूतों से एक हिरण्यमय पुरुष को निकाल कर, उसे सम्पूर्ण अवयवों से युक्त करके मूर्तरूप दिया और उसमें मुख, नासिका, नेत्र श्रवणादि इन्द्रियों का विधान किया। इन इन्द्रियों से उनके अधिष्ठात् देवताओं-वाक्, अग्नि, प्राण, वायु, आदित्य, दिशाओं, औषधि एवं वनस्पतियाँ, चन्द्रमा, मृत्यु, रेतस्, आप आदि की सृष्टि की।[101]

प्रायः सभी उपनिषदों में सृष्टिचक्र की विस्तार से चर्चा पायी जाती है। प्रश्नोपनिषद् में सृष्टि छः प्रश्नों के माध्यम से सृष्टिचक्र व्याख्यायित है। कात्यायन कबन्धी के द्वारा पूछे गये प्रजा की उत्पत्ति विषयक प्रश्न का प्रत्युत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलाद सर्वशक्तिमान परब्रह्म परमेश्वर के संकल्प द्वारा प्राण और रयि के संयोग से अखिल जगत की उत्पत्ति बताते हैं। वे यह भी बताते हैं कि 'प्राण' चेतना और 'रयि' शक्ति या आकृति है, अतः धनात्मक और ऋणात्मक दो तत्त्वों की भाँति प्राण-रयि के संयोग से सृष्टि कार्य सम्पन्न होता है।[102]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि विषयक विविध सिद्धांतों का संकलन कर उनकी समालोचना की गई है। ब्रह्म की सर्वोपरिता स्वीकृत करते हुए बताया गया है कि वही जगतरूपी जाल का स्रष्टा, जगत् का शासक, संसार का सृष्टि और विस्तार में एकाकी सर्वथा समर्थ जगत् का पालक और अन्तकाल में इस सृष्टि का संहारक वही है। साथ ही साथ यह भी माना गया है कि वही समग्र प्राणियों को आवश्यकतानुसार शक्तिसम्पन्न कर सामर्थ्यवान बनाने में सक्षम है। इसी उपनिषद् में निर्देशित है कि ब्रह्म ही विश्व का रचयिता, ज्ञाता, स्वयम्भू, काल का भी महाकाल, सभी दिव्य गुणों का आगार सर्ववित्, प्रकृति-स्थिति-प्रलय-कर्ता तथा बन्धन और मोक्ष का प्रदाता है। ब्रह्म हमारे हृदय में अन्तर्यामी के रूप में स्थित है। यही जीवात्मा भोक्ता, प्रकृति अर्थात् जडवर्ग भोग्य तथा ईश्वर प्रेरक है और भोक्ता

---

101 ऐतरेयोपनिषद्, 1.1.2 / 1.1.3 / 1.1.4

102 तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्तवा स मिथुनमुत्पादयते।
रयिं च प्राणं चेत्यैतो मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।। -प्रश्नोपनिषद् 1.4
आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।
-प्रश्नोपनिषद् 1.5
स प्राणामसृजत प्राणाच्छ्द्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च। -प्रश्नोपनिषद् 6.4

एवं प्रेरकरूप त्रिविध ब्रह्म ही वस्तुतः पूर्ण ब्रह्म है। परमेश्वर से जगत् की सृष्टि का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वह एकमात्र देव (प्रकाशमय परमात्मा) द्युलोक और पृथ्वी की रचना करता हुआ (वहाँ के मनुष्य-पक्षी आदि प्राणियों को) दो भुजाओं और पतत्रों (पैरों एवं पंखों)-से युक्त करता है।[103] तात्पर्य यही कि उस एकमात्र देव ने विराट की रचना की।

उपनिषदों में जगत् की सभी सम्भावनाएँ, आदिसत्ता, ईश्वर, में स्वीकार की गई हैं। सम्पूर्ण विश्व अपनी अभिव्यक्ति से पहले वहाँ था। व्यक्त विश्व का पूर्ववर्ती अव्यक्त विश्व, अर्थात् ईश्वर, है। ईश्वर जगत् की रचना नहीं करता, बल्कि वह जगत् बन जाता है।[104] उपनिषदों में अनेकरूप में मिलती सृष्टि-संरचना से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी उपनिषदों ने परब्रह्म को सृष्टि का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण माना है। ब्रह्म ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। उपनिषदों में जगत् को सत्य कहा गया है। उपनिषदें बलपूर्वक कहती हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है। संसार का आधारमूल भी ब्रह्म में है और इसी दृष्टि से वह (संसार) भी उसी ब्रह्म का प्राण है। यह वाणी है। यह मानस है। विश्व में सबकुछ यही है। ब्रह्म नीचे से नीचे दर्जे की धूल में भी है और एक क्षुद्र रजकणिका में भी है। ब्रहम और सृष्टि का ऐक्य बताते हुए कहा गया है कि यह विश्व अर्थात् सारा जगत् श्रेष्ठतम ब्रह्म ही है।[105]

यथार्थसत्ता की स्वीकृति के अन्दर उन सबकी भी स्वीकृति आ जाती है जो उसके ऊपर आधारित हैं। ब्रह्म को एकमात्र यथार्थ सत् मान लेने से उन सब पदार्थों की सापेक्ष सत्ता की भी स्वीकृति जो उसके अन्तर्गत हैं या उसके ऊपर आश्रित हैं, स्वतः ही निष्कर्ष रूप में आ जाती है। डॉ.राधाकृष्णन स्पष्टतया मानते हैं कि उपनिषदों में कुछ परिच्छेद ऐसे भी हैं जो प्रतिपादन करते हैं कि हमें ब्रह्म में नानात्व नहीं देखना चाहिए। इन परिच्छेदों में जगत् के ऐक्य की ओर संकेत किया गया है। एक अनन्त के ऊपर बल दिया गया है, अनेक सान्त सत्ताओं के ऊपर नहीं।

1.2.6 मुख्य उपनिषदों में माया (अविद्या) तत्त्व निरूपण :

उपनिषदों में माया और अविद्या सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। इसका बीज वेदों में दृष्टिगत है। शंकर के माया एवं अविद्या सिद्धांत के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि शंकर ने इन्हें बौद्धदर्शन से ग्रहण किया है। यदि यह सत्य नहीं है तो माया सम्बन्धी विचार शंकर के मन की उपज है। दोनों विचार भ्रामक हैं। शंकर ने माया और अविद्या सम्बन्धी धारणा को

---

103 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3.1-2-3-12-16

104 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.85

105 मुण्डकोपनिषद्, 2.2.11

उपनिषद् से ग्रहण किया है। प्रो.रानाडे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक A Constructive Survey of Upanisadic Philosophy में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि माया और अविद्या विचार का स्रोत उपनिषद् हैं।[106] उपनिषदों व शांकर भाष्य में माया के लिए अविद्या, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, अव्याकृत, प्रधान, अध्यास, शक्ति, उपाधि आदि पर्यायवाची शब्दों का अनुप्रयोग हुआ है।

प्रकरणभेद से शास्त्रों में कहीं पर 'माया' कहीं पर 'अविद्या' और कहीं पर 'नामरूप' कहकर विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। जिस प्रकार ब्रह्म और आत्मा एक हैं इसी प्रकार माया और अविद्या एक ही हैं। जो वस्तुत: एक है उसे अनेक रूप मानकर देखने की जो मानवीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति है यही अविद्या है और यह सब व्यक्तियों में एक समान पाई जाती है।[107] कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में अज्ञान के अर्थ में अविद्या शब्द का प्रयोग मिलता है।[108] मायावाद का सिद्धांत ग्रन्थि के रूप में परिलक्षित होता है।यह अविद्या रूपी ग्रन्थि तभी खुलती है, जब परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति को माया का पर्यायवाची माना गया है और माया का त्रिगुणात्मिका का वर्णन किया गया है।[109] माया परमात्मा की शक्ति है। माया ज्ञान विरोधी तमोरूप व भावरूप है। ज्ञान के द्वारा निर्वर्त्य होना ही माया का लक्षण है - *''तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।''* बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राप्त 'असत्' तत्त्व को पूर्ववर्ती वेदांत की माया का ही प्रतिरूप माना जा सकता है। इसी उपनिषद् में प्रस्तोता प्रस्ताव करता है कि 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ। मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाओ और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ।' यहाँ 'सत्' का संकेतार्थ परमात्मा और जीवात्मा है तो 'असत्' का संकेतार्थ जगत् है अर्थात् यह जगत् ही माया का प्रतिरूप है।[110]

कठोपनिषद् में अविद्या एवं अध्रुव के रूप में मायावाद का सिद्धांत दृष्टिगत होता है।[111] प्रश्नोपनिषद् आचार की कुटिलता, 'मिथ्या' और 'माया' के रूप में मायावाद का सिद्धांत आरोपित करती है।[112] छान्दोग्योपनिषद् में 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं पाया

---

106 प्रो.हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा से उद्धृत, पृ.63

107 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-2, पृ.511-512

108 कठोपनिषद्, 1.2.5 एवं मुण्डकोपनिषद्, 2.1.10

109 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1.3 / 1.10

110 असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति। -बृहदारण्यकोपनिषद् 1.3.28

111 कठोपनिषद्, 1.2.4

112 प्रश्नोपनिषद्, 1.16

जाता, परन्तु मायावाद का सिद्धांत सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर अविद्या तथा मिथ्यातत्त्व के आधार पर मायावाद का सिद्धांत एवं विद्या-अविद्या का भेद निरूपित हुआ है।[113] इसी उपनिषद् के इन्द्र और विरोचन तथा नारद-सनतकुमार आख्यान में माया अंशत: प्रतिबिंबित होती है। 'माया' का प्रयोग 'प्रकृति' के लिए, उस विषय परक तत्त्व के लिए, भी हुआ है जिसे पुरुषविध ईश्वर सृष्टि के लिए प्रयुक्त करता है। ++ ++ ++ 'प्रकृति' को ईश्वर की माया कहा गया है, पर उसके रूप हम जीवात्माओं को अपने से बाह्य लगते हैं। उसके वास्तविक स्वरूप के बारे में हमारे अज्ञान का यही कारण है। जगत् ईश्वर की माया की शक्ति द्वारा रचा गया है, पर व्यक्तिगत आत्मा को माया ने अविद्या या अज्ञान में बाँध रखा है।[114]

सार रूप में कहा जा सकता है कि माया के लिए अविद्या, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, अव्याकृत, प्रधान, अध्यास, शक्ति, उपाधि आदि शब्द आलेखित हुए हैं। माया अज्ञान अनुभवगम्य, परमेश्वर की शक्ति, अनादि अविद्या, जड़ मोहात्मक, त्रिगुणात्मिका स्वरूपा, अनिर्वचनीय है। माया के सिद्धांत को व्यक्त करने वाले शब्द असत्, अनृत, अविद्या, ग्रन्थि आदि शब्द माया के सिद्धांत के क्रमिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। माया का सूक्ष्म भाव ही इन औपनिषदिक शब्दों में अन्तर्निहित था, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति न होगी।

1.2.7 मुख्य उपनिषदों में कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्षतत्त्व निरूपण :

भारतीय चिंतक अतीत काल से ही कर्मवाद का पोषक रहा है। कर्म का सिद्धांत नैतिक जगत् में वही स्थान रखता है जो भौतिक जगत् में एकरूपता के सिद्धांत का है। यह नैतिक शक्ति के संरक्षण का सिद्धांत है। ऋग्वेद में वर्णित 'ऋत' के रूप में शान्ति एवं सुव्यवस्था का आभास देखा जा सकता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार नैतिक जगत् में अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नहीं है। हम वही काटते हैं जो बोते हैं। पुष्प के बीज से पुष्प की खेती फलेगी, पाप का फल भी पाप होगा । छोटे से छोटा कर्म भी चरित्र पर असर रखता है।[115] कर्म और ज्ञान दोनों ही वेद प्रतिपादित मार्ग हैं। इसमें पहला कर्म मार्ग है, दूसरा ज्ञान मार्ग हैं। पहला प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति मार्ग है। उपनिषदों में कर्म को अविद्या तथा ज्ञान को विद्या माना गया है, क्योंकि कहा गया है कि ''उसने पत्नी की इच्छा की''[116] इत्यादि वाक्यों

113 छान्दोग्योपनिषद्, 1.1.10

114 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.90-91

115 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-1, पृ.200

116 सोऽकामयत जाया मे स्यात् । -बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.17

से स्पष्ट है कि अज्ञानी और सकाम पुरुषों के लिए ही कर्म का विधान है। आत्मज्ञानी के लिए भी कहा गया है कि यदि हमको यह आत्मलोक ही सम्पादन करना है तो हम प्रजा को लेकर क्या करेंगे ? बृहदारण्यकोपनिषद् की इस बात से सिद्ध है कि आत्मज्ञानी के लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं है। आगे यह भी कहा गया है कि सुकर्मों द्वारा ही मनुष्य पुण्यात्मा बनता है। पुण्य कर्मों से मनुष्य पुण्यात्मा एवं पापकर्मों से पापी होता है।[117] इसलिए मनुष्य जाति के लिए विधान है कि सदिच्छा करो और पुण्यकर्म करो। मनुष्य इच्छाशक्ति का प्राणी है। इस संसार में जैसी उसकी भावना होती है, मृत्यु के पश्चात् उसी प्रकार का वह बन जाएगा।[118] कर्म के प्रतिफल के लिए इस जन्म एवं मृत्युवाले संसार की सृष्टि होती है, जो अनादि है एवं अनंत है।

उपनिषदों में यही बात स्पष्ट है कि हमें समाजसेवा द्वारा कर्मों से मुक्ति मिल सकती है। जब तक हम स्वार्थ को लेकर काम करते हैं, हम कर्मबन्धन के नियम के अधीन रहते हैं। जब हम निष्काम कर्म करते हैं, तो मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जब तक तुम इस प्रकार निष्काम कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करते हो, ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता कि कर्म तुम्हें बन्धन में डाल सकें।[119] कर्म का सिद्धांत यह बताता है कि प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म विशिष्ट प्रकार का परिणाम उपस्थित करता है जिससे कोई बच नहीं सकता। इस भौतिक संसार में कार्य-कारण का एक सार्वभौम नियम है। कर्म का सिद्धांत इस नियम को मानसिक एवं नैतिक धरातल पर भी ला देता है। कर्म का सिद्धांत कोई यांत्रिक कानून नहीं है, यह एक प्रकार से नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है। इसमें संदेह नहीं कि यह सिद्धांत वैज्ञानिक नहीं है, किन्तु इसे केवल काल्पनिक कहकर ही हम नहीं त्याग सकते। यदि कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत न होता तो हम इस लोक को अनियंत्रित मानते और यह समझते कि स्रष्टा लोगों के कर्मों की चिन्ता नहीं करता है और मनमाने ढंग से लोगों को पुरस्कार आदि देता है। वास्तव में कर्म-सिद्धांत तीन बातों पर बल देता है-(1) यह वर्तमान अस्तित्व को अतीत अस्तित्व अथवा अस्तित्वों में किये गये कर्मों का फल मानता है, एक प्रकार का प्रायश्चित मानता है, (2) बुरे कर्म का नाश सत्कर्म से नहीं हो सकता, दुष्कर्मों का भोग तो भोगना ही है, (3) दुष्कर्म के लिए जो दण्ड होता है वह व्यक्तिगत एवं स्वयं होने वाला होता है। यहाँ पर संयोग एवं भाग्य की बात ही नहीं उठती।[120]

---

117 सतु: पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेनेति। -बृहदारण्यकोपनिषद् 3.2.13

118 यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। -छान्दोग्योपनिषद् 3.14.1

119 ईशावास्योपनिषद् मन्त्र-2

120 मधुरिमा सिंह : आत्मा, कर्म पुनर्जन्म और मोक्ष, पृ.66

जीव ने वर्तमान में जैसा कर्म किया है, उसीके अनुसार उसका भविष्य भी निर्मित होगा। अतएव इस स्वरूप को अच्छा बनाने के लिए जीवितावस्था में उसे शुभ कर्म करना चाहिए, ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए, एवं उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार जीवात्मा अपने अच्छे कर्मों से अच्छे स्वरूप, अच्छे देश व अच्छे शरीर को प्राप्त करता है। स्पष्ट है कि जीव इहलोक से परलोक जाता है और अपने कर्मानुसार भोग भोगता है। उपनिषदों में इस बात का विवरण मिलता है कि मनुष्य किस तरह मरता है और पुनः जन्म लेता है ? जिस प्रकार जाने के लिए तैयार हुए राजा के अभिमुख होकर उग्रकर्मा और पापकर्म में नियुक्त सूत एवं गाँव के नेता लोग जाते हैं, उसी प्रकार जब वह ऊर्ध्वोच्छ्वास लेने लगता है तो अन्तकाल में सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं। आत्मा किस प्रकार एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है, इस संक्रमण को कई उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार एक तिनका घास के एक अंकुर के पोर पर पहुंचने के उपरान्त दूसरे अंकुर के पास पहँचने की गति करता है, उसकी ओर अपने को खींच लेता है और उस पर अपने को अवस्थित कर लेता है, उसी प्रकार यह (जीव का) आत्मा मृत्यु पर अपने शरीर को त्याग कर, अविद्या को हटाता हुआ, दूसरे शरीर की ओर पहुंचता हुआ उसकी ओर अपने को खींच लेता है और उसी में अपने को अवस्थित कर लेता है। अन्य एक उदाहरण में कहा गया है कि जिस प्रकार सर्प का केंचुल पिपीलिका के देह पर मरा हुआ एवं फेंका हुआ रहता है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रह जाता है और तब आत्मा, शरीर रहित, अमरात्मा हो जाता है और केवल ब्रह्म होता है। जिस प्रकार सुनार सोने का भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को नष्ट कर और अज्ञान को दूर कर कोई नवीन और अधिक सुन्दर रूप धारण कर लेती है, चाहे वह रूप प्रेतात्माओं का हो, अर्धदिवताओं का हो, देवताओं का हो, प्रजापति का हो, ब्रह्म का हो या किसी अन्य सत्ता का।[121]

यह संपूर्ण वचन सबसे प्राचीन, मुख्य एवं स्पष्ट वचन हैं और उपनिषदों में पाये जाने वाले पुनर्जन्म के सिद्धांत पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। उपनिषदों में पुनर्जन्म के लिए 'पुनर्जायिते', 'पुनरावर्तन्ते', 'पुनर्निवर्तन्ते', 'जायते पुनः', 'पुनः पुनःवशमापद्यते मे', 'पुनरावृत्तिः' एवं 'पुनर्भव' आदि पर्याय मिलते हैं। 'पुनर्जायिते' का अर्थ पुनः जन्म लेना है। ऐतरेयोपनिषद् में इस शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि जब पिता वृद्धावस्था में पहुँचकर कृतकृत्य होकर अर्थात् सब कर्तव्य कर्मों को समाप्त कर मर जाता है, तब इस लोक

121 बृहदारण्यकोनिषद्, 4.3.38 / 4.4.3 / 4.4.4

से जाता हुआ फिर जन्म लेता है।[122] आत्मा वर्तमान शरीर छोड़ने से पहले अपने भावी शरीर को खोज लेती है। आत्मा इस अर्थ में सृजनशील है कि वह शरीर का सृजन करती है। शरीर को जब भी वह बदलती है तो एक नवीन रूप धारण करती है। आत्मा के प्रत्येक जीवन की स्थिति उसके उससे पहले के जीवन के ज्ञान (विद्या) और कर्म द्वारा प्रतिबद्ध और निर्धारित होती है । अज्ञानी, अप्रबुद्ध मृत्यु के बाद असुरों के सूर्यहीन लोकों में जाते हैं। ज्ञानी के लिए यह कहा गया है कि वे वायु, सूर्य और चन्द्रमा में से होते हुए शोकरहित लोकों में जाते हैं।[123]

वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र परलोकगामी प्राणियों की विविध ऊर्ध्वगतिओं का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनकी संज्ञा देवयान तथा पितृयान हैं। उपनिषदों की भाँति गीता में भी इन मार्गों का वर्णन किया गया है। इनमें से एक को शुक्ल और दूसरे को कृष्ण कहा गया है। एक वह है जिसके द्वारा जाने से योगी इस लोक में लौटकर नहीं आता और दूसरा वह है, जिसके द्वारा जाने पर उसे पुनः यहाँ लौट आना पड़ता है। प्रथम है अग्नि, प्रकाश (ज्योति), दिन, मास का शुक्ल पक्ष एवं सूर्य का उत्तरायण मार्ग, वे लोग जिन्होंने ब्रह्म की अनुभूति कर ली है, इस लोक से जाते समय ब्रह्मलोक की यात्रा करते हैं। दूसरा मार्ग है धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, सूर्य का छः मासों का दक्षिणायन मार्ग, योगी उस मार्ग से चन्द्र-प्रकाश को प्राप्त कर पुनः इस लोक में लौट आता है। जगत में ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा गया हुआ, जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परमगति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में उसे देवमार्ग और पितृमार्ग के रूप में व्याख्यायित किया गया है।[124] उपनिषद् में मर्त्यों के लिए दो मार्ग बताये हैं-एक प्रकाश का और दूसरा अन्धकार का। छान्दोग्योपनिषद् में पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में प्रवाहण जैबलि ने श्वेतकेतु आरुणेय से पाँच प्रश्न किए हैं। निरुत्तर होने के बाद में प्रवाहण ने श्वेतकेतु के पिता आरुणि के आग्रह पर जीवात्मा की संपूर्ण यात्रा का वर्णन करते हुए दोनों मार्गों की विस्तृत व्याख्या की जो पंचाग्नि विद्या के नाम से प्रसिद्ध है।[125] पंचाग्नि विद्या द्वारा उन मार्गों का उल्लेख किया गया, जिनमें मानव के प्राण मृत्यु पश्चात अपने कर्मानुसार गमन करते हैं। मनुष्य जब तक सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेता, तब तक पुनर्जन्म ही उसकी नियति है। सत्कर्मों से वह अपने क्रमिक विकास को आगे बढ़ाता है। गुण का पुरस्कार गुण की वृद्धि है। हृदय की

---

122 ऐतरेयोपनिषद्, 2.1.4

123 बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.2 / 4.4.11 / 5.10.1; ईशावास्योपनिषद्, 3

124 श्रीमद् भगवद्‌गीता, 8.23-26

125 छान्दोग्योपनिषद्, 5.3.1-3

निर्मलता में वृद्धि होने से सत्य का अधिक स्पष्ट संदर्शन होता है। सत्य के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है।[126] देवयान एवं पितृयान क्रमश: प्रकाश एवं अंधकार के राज्य के अनुसार हैं, जिनके कारण हम संसार में जन्म लेते हैं। एक तीसरे मार्ग का भी उल्लेख मिलता है, जो दु:खमय है एवं अंधकार से आवृत्त है। जो जीव न तो उपासना करते हैं न इष्टादि कर्म ही निष्पन्न करते हैं, वह देवयान और पितृयान किसी भी मार्ग से गमन नहीं करते। वे बार-बार आने-जाने वाले क्षुद्र जीव, डांस, मच्छर और कीड़े ही होते हैं; उत्पन्न होना और मरना यही उनकी नियति है-यही तीसरा स्थान है। संसार की यह गति घृणास्पद है। यह वह तीसरा मार्ग है, जिस पर कीड़े-मकोड़े एवं सरीसृप जाकर इस संसार में जन्मते और मरते हैं।[127] जन्म-मरण ही तीसरा मार्ग अर्थात् मनुष्यलोक है।[128] उपनिषदों के विविध वर्णनों से दो बातें स्पष्ट हो जाती है-एक तो यह कि देवयान मार्ग में प्रकाश ही प्रकाश है, जबकि पितृयाण अन्धकारयुक्त है। देवयान निष्काम कर्म वालों का मार्ग है और पितृयाण सकाम कर्मों वालों का।

प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य इस पाँच भौतिक स्थूल भोगायतन शरीर में जो आत्मा को आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दु:ख मिलते हैं, उनसे छूटकर अखण्ड ब्रह्मानंद का भोग करना ही मोक्ष कहलाता है। उपनिषदों में मोक्ष को प्रमुखता प्रदान की गई है। मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना है। मोक्ष ही पुरुषार्थ चतुष्टय का अंतिम सोपान है। मोक्ष को ही मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग आदि भी कहते हैं। मुक्ति न केवल सांसारिक दुखों से वरन् संसार के बंधन से हमेशा के लिए मुक्ति है। उपनिषदों की स्पष्ट घोषणा है कि मानवजीवनयापन के दो ही मार्ग हैं-श्रेयो मार्ग व प्रेयो मार्ग। प्रेयो मार्ग आपात रमणीय है। सांसारिक सुखों से आकृष्ट मानस पुरुष ही इस दिशा में प्रवृत्त होते हैं। वह अंतिम मंगल साधन नहीं है। तभी तो नचिकेता इस मार्ग को त्याग देता है और कहता है कि-मुझे केवल तत्त्वज्ञान ही दीजिए।[129] ठीक उसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद द्वारा भी यही स्पष्ट होता है कि विचारशील पुरुष प्रेयोमार्ग को त्यागकर श्रेयोमार्ग का ही वरण करता है। श्रेयोमार्ग मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाता है क्योंकि इससे बढ़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है।[130]

---

126 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.124

127 बृहदारण्यकोपनिषद्, 6.2.16

128 छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.8

129 कठोपनिषद्, 1.1.27-28

130 तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ।। -श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.8

कठोपनिषद् मोक्षावस्था का वर्णन करते हुए कहती है कि उस अवस्था में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि निर्व्यापार हो जाते हैं। जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है उसकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है; सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।[131] उपनिषदों में मोक्ष दु:खाभाव रूप ही नहीं अपितु आनंदरूप भी स्वीकारा है। *'अत्र ब्रह्म समश्नुते'*[132], *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कुतश्चनेति'*[133] इत्यादि उपनिषद् वचनों का यही तात्पर्य है। केवल ब्रहमलोक में वास मोक्ष नहीं है, अपितु अभौतिक शरीर से आनन्द का उपभोग करना मोक्ष है। मोक्ष के आनन्द की मात्रा को लौकिक दृष्टान्तों से समझाने का प्रयास बृहदारण्यकोपनिषद् करती है। इस परमानन्द की तुलना सम्भोग सुख से की गयी है। प्रिया के आलिंगन में आबद्ध पुरुष बाहरी या भीतरी वस्तु का भेद नहीं परख सकता, ठीक वैसे ही आत्मा व परमात्मा के मिलन से बाह्य और अन्दर की सब बातें विस्मृत हो जाती है। उसकी तमाम कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। कारण यह है कि परमात्मा की उपलब्धि से और सब इच्छाओं का प्राय: लोप हो जाता है। वह आप्तकाम व अकाम रूप में अवस्थित होकर शोकरहित हो जाता है।

भारतीय दर्शन में मोक्ष का स्वरूप अभावात्मक और भावात्मक रूप में विद्यमान है। छान्दोग्योपनिषद् में मोक्ष की भावात्मक सत्ता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुक्त जीव प्रभु को प्राप्त कर दिव्य नेत्र और मन द्वारा कामनाओं को देखता हुआ रमण करता है। दिव्यता को प्राप्त जो देवरूप जीव परमात्मा की उपासना द्वारा इस अवस्था को प्राप्त करते हैं, वे सभी लोकों और कामनाओं कों प्राप्त करते हैं।[134] कठोपनिषद् (1.3.8) में यमराज और नचिकेता का संवाद तत्त्वज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसमें मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहा गया है कि जो विवेकी है, जिसका मन निगृहित है और जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परमपद को प्राप्त करता है, जहाँ से लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। आत्मज्ञान से ही अमरता अर्थात् मुक्ति मिलती है यह बात बृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्ट करती है। आत्मज्ञानी अमृत और अभय तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, वह परात्पर ब्रहम का दर्शन करता है। आत्मज्ञानी ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। उपनिषदें इस तथ्य को बतलाती है कि आत्मा ब्रह्म ही है। *'अयमात्मा ब्रह्म:'*, *'अहं ब्रह्मास्मि'* आदि वाक्य इसी के सूचक हैं। मोक्ष की

---

131 भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। -मुण्डकोपनिषद् 2.2.8

132 कठोपनिषद्, 2.3.14

133 तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली-9

134 छान्दोग्योपनिषद्, 8.12.5-6

अवस्था में जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्यता हो जाती है। जीव का ब्रह्म से एकत्र हो जाना ही मोक्ष है। इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है। उपनिषदें ब्रह्म को आनन्दमय बताती है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है।

उपनिषद् के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान अर्थात् विद्या के द्वारा ही संभव है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* जो ब्रह्म को जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए तीन चरण बताये हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से बंधनग्रस्त आत्मा मुक्त हो जाती है। जो व्यक्ति मोक्ष की कामना रखता है, उसे उपनिषद् के सिद्धांतों का गुरु के आश्रम में जाकर सुनना चाहिए। मनन की अवस्था में गुरु से प्राप्त उपदेशों पर चिन्तन और विचार करना अपेक्षित है । निदिध्यासन ध्यान का पर्याय है। इस अवस्था में जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसे योगाभ्यास के द्वारा पुष्ट बनाने की दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिए । इस प्रकार मनुष्य द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप को ज्ञान के द्वारा जान लेना ही मोक्ष माना गया है।[135] मुक्ति का अर्थ है इस संसार के भवचक्र से मुक्ति-कर्म से मुक्ति।

इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान द्वारा मुक्त हो जाने पर भी उसको अपने प्रारब्ध कर्मों के वशीभूत हो इस शरीर से तत्काल मुक्ति नहीं मिलती है। भारतीय दर्शन में अज्ञान से मुक्ति और शरीर से मुक्ति रूप मुक्ति के दो भेद माने गये हैं, जिनका नाम है जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति।

1.2.8 मुख्य उपनिषदों में धर्म निरूपण :

उपनिषदों की विषयवस्तु मुख्य रूप से तो आध्यात्मिक एवं दार्शनिक है, किन्तु इसमें नीति, व्यवहार और सांसारिक कर्तव्यों आदि का भी वर्णन मिलता है। उपनिषद् तप:पूत ऋषियों के अंत:करण से नि:सृत लौकिक व दिव्य ज्ञान की राशि है। आध्यात्मिक क्षेत्र में जितना भी तथ्य है, वह सब एकत्र होकर यहाँ मिल जाता है। व्यावहारिक व सांसारिक जीवन को सुखद् व उत्तम बनाने के लिए विपुल ज्ञानराशि का समावेश उपनिषदों में प्राप्त होता है। डॉ.राधाकृष्णन का मानना है कि-''उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग है, इसलिए इन्हें वेदांत की संज्ञा दी गई है। जिससे यह ध्वनित होता है कि वैदिक शिक्षाओं का सार इनमें है। उपनिषदें नींव के रूप में हैं, जिनके ऊपर बहुत से भारतीय दर्शनशास्त्र और धार्मिक संप्रदायों के भवन खड़े हैं।'' भारतीय धर्म, दर्शन और जीवन में कर्म के सिद्धांतों को एक अचल सिद्धांत

---

135 'आत्मानमेवावेत्' -बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.10

माना जाता है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' इस तथ्य को भारत का ग्रामीण मनुष्य भी जानता है। कर्मों का फल अवश्य मिलता है। जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है। वह चाहे तो उत्तम कर्मों से इस जीवन को उत्तम बना ले अथवा अशुभ कर्मों से दु:खमय बना ले। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि यह पुरुष काममय है। वह जैसी भावना करता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्प करता है, उसी के अनुसार कर्म करता है तथा जैसा कर्म करता है, वैसा ही वह हो जाता है।[136]

धर्म के तीन अंग है-ज्ञान, कर्म और उपासना। अपने-अपने इष्ट देव तथा सृष्टि का स्वरूप समझना ज्ञान है। यज्ञ संस्कार तथा परोपकारमय कार्य कर्म है। स्तुति, प्रार्थना तथा ध्यान द्वारा अपने उपास्य के सामने बैठना उपासना है। धर्म के इन अंगों के पालन से मानव का लोक-परलोक सुखी शांत तथा आनंदमय बनता है।[137] उपनिषदों में परा-अपरा विद्या का वर्णन मिलता है। विद्या का अर्थ ज्ञान है। यहाँ ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है। एक वह ज्ञान जो सांसारिक दु:खों से लेकर सत्यालोकादि दिव्य सुखों की प्राप्ति कराता है। ऋग्वेदादि का ज्ञान ऐसा ही ज्ञान है। इसे उपनिषदों में अपरा विद्या कहा गया है। परा विद्या उसे कहते हैं, जिसके द्वारा उस अक्षरब्रह्म की प्राप्ति की जाती है।[138]

प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्म करने वाला शुभ फल तथा अशुभ कर्म करने वाला अशुभ फल प्राप्त करता है। उपनिषदें सतत कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करती है।[139] उपनिषदें धार्मिक उपासना के परम्परागत रूपों को ब्रह्म की सिद्धि के लिए साधनों के रूप में प्रयुक्त करती हैं। वैदिक मन्त्र परम सत्य की विविध शक्तियों को सम्बोधित करके रचे गए हैं, जो उसके महत्त्वपूर्ण पक्षों के प्रतीक हैं। वे श्रद्धा और उपासना के धर्म का उपदेश देते हैं। 'ब्राह्मणों' में कर्मकाण्ड की चर्चा है और यह कहा गया है कि उनके अनुष्ठान से हमारे लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है। उपनिषदों ने इन दोनों पद्धतियों को लिया है और इनकी पुनर्व्याख्या की है।[140]

उपनिषदों में आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ व्यावहारिक साधन बतलाये गये हैं। आत्म-साक्षात्कार से पूर्व कठोर साधना की आवश्यकता होती है। ब्रह्म साक्षात्कार में श्रवण,

---

136 काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।। -बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.5

137 डॉ.रामसरूप 'रसिकेश' : सर्वधर्म कोश, प्रस्तावना से, पृ.14

138 मुण्डकोपनिषद्, 1.1.4-5

139 कुर्वन्नेवेह कर्माणि। -ईशोपनिषद् 2

140 डॉ.राधाकृष्णन : उपनिषदों का संदेश, पृ.142

मनन आदि साधनों की उपयोगिता निर्विवाद है।[141] मुण्डकोपनिषद् में भी यही संकेत दिया गया है कि जो मनुष्य कठोर जीवन को व्यतीत करने की क्षमता नहीं रखता वह कभी आत्मानुभव को प्राप्त नहीं कर सकता।[142] शरीर एवं मन दोनों का शुद्ध होना आत्मज्ञानी के लिए परमावश्यक है। शारीरिक शुद्धि के बिना मानसिक शुद्धि हो नहीं सकती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शरीर एवं मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव आत्मा के साक्षात्कार के लिए शरीर एवं मन या अन्त:करण की साधना नितान्त आवश्यक है। आत्मजिज्ञासु के लिए सर्वप्रथम शारीरिक शुद्धि आवश्यक है, क्योंकि जैसा शरीर होगा, वैसा ही मन होगा। शरीर अन्न का परिणाम होने तथा अन्न पर ही आश्रित होने के कारण उपनिषदों एवं धर्मशास्त्रों में आहार-शुद्धि पर विशेष बल दिया है। आरुणि ने अन्न के त्रिविध परिणाम बताये हैं।[143] परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए असंयत जीवन, अनुचित आचरण और पशुवत् अविवेक वर्जित है। इधर-उधर के भोजन का भी निषेध है। इसके बिना पूर्ण चित्तवृत्ति निरोध नहीं हो सकता है। गीता में भी सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी इन तीनों वृत्तियों को भोजन का परिणाम बताया गया है।[144]

उपनिषदों में मानसिक शुद्धि सम्बन्धी साधन भी बताये हैं। छान्दोग्योपनिषद् में श्रेय प्राप्ति के लिए मानसिक शुद्धि हेतु उपासना को विशेष महत्त्व दिया गया है। 'उपासना' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है-'अत्यन्त समीप बैठना' किन्तु इसका प्रचलित अर्थ ब्रह्म का ध्यान-चिन्तन और मनन है, जो धर्म से सम्बन्ध रखता है। उपासनाओं का प्रमुख प्रयोजन चित्त की एकाग्रता है। छान्दोग्योपनिषद् भाष्य की भूमिका में उपासना की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि-'उपासना तो किसी शास्त्रोक्त आलम्बन को ग्रहण कर उसमें विजातीय प्रतीति से अव्यवहित-सदृश चित्तवृत्ति को प्रवाहित करना है।'[145] उपासना एक मानसिक व्यापार है, जिसमें सगुण ब्रह्म को विषय बनाया जाता है; इसे शाण्डिल्य विद्या भी कहा जाता है। क्योंकि शाण्डिल्य ऋषि ने भक्ति और उपासना का उपदेश दिया। छान्दोग्योपनिषद् में स्वयं शाण्डिल्य ऋषि ने सगुण ब्रह्म के विषय में जो कुछ कहा उस विद्या का अभ्यास करने

---

141 एवंभूतस्वरूपचैतन्यसाक्षत्कारपर्यन्त श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते।
-सदानन्दप्रणीत वेदान्तसार: पृ.236

142 मुण्डकोपनिषद्, 3.2.4

143 छान्दोग्योपनिषद्, 6.5.1

144 श्रीमद् भगवद्गीता, 17.8-10

145 उपासनं तु यथाशास्त्र समर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसंतानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययायनन्तरितमिति विशेष:। -छान्दोग्योपनिषद् पर शांकर भाष्य की भूमिका, पृ.6

वाले साधक को, जहाँ भी उसका चित्त जाता है, ब्रह्म का ही साक्षात्कार होता है। इसी ही उपनिषद् के आठ प्रपाठकों में प्रथम पाँच प्रपाठक ब्रह्म की अनेक प्रकार की प्रतीकोपासनाओं से परिपूरित हैं, यथा ओंकारोपासना, उद्‌गीथोपासना, प्रणवोपासना, सामोपासना[146] इत्यादि।

उपनिषदों में धर्म के महतीय रूप के दर्शन होते हैं। इसमें स्थान-स्थान पर नैतिकता और सदाचार का उपदेश है, जो मानव को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर करता है और सूक्ष्मतम ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य बनाता है। यहाँ धर्म के तीन स्कंधों का कथन किया है- यज्ञ, तप और दान। यज्ञ, दान एवं तप का परम प्रयोजन साधक के शरीर एवं मन को शुद्ध करना ही है। जैसा कि गीता में भी कहा है- *'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'*[147] मानवजीवन का प्रमुख अंग तप है, तप के आचरण से ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है। मन तथा शरीर को दृढ़ निष्ठा से धर्म की ओर लगाने का नाम तप है। धर्मशास्त्रों में तप का प्रयोजन पाप का नाश तथा चित्त की शुद्धि बताया है। मनु ने कहा है कि *'तपसा किल्बिषं हन्ति।'*[148] तप के द्वारा ही इन्द्रियों का संयम और चित्त एकाग्र होता है। दान न देने वाले, श्रद्धा न करने वाले तथा यज्ञ न करने वाले व्यक्ति असुर स्वभाव वाले तथा श्रद्धा और तप में लीन रहने वालों को उपनिषदें ब्रह्मलोक का अधिकारी बताती हैं। मनुष्य इसी संसार में और इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त करता है। अत: उसके लिए सत्य का ज्ञान जरूरी है। तप और सदाचार से उसे सत्य का आभास मिलता है। उदार मन, पावन विचार, शिष्ट व्यवहार, स्त्रियों का आदर विद्वानों की सेवा आदि जीवन के महाव्रत माने गये हैं। ब्रह्मचर्य आश्रमव्यवस्था का एक अंग है, परन्तु मन, वचन और कर्म में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना धर्म का अंग है। इसकी महत्ता इन्द्रिय संयम की भावना से है। आत्म-तत्त्व के ज्ञान में सहायक होने के कारण ऋषि ने ब्रह्मचर्य को यज्ञ की संज्ञा दी है। लोक में जिसे शिष्ट पुरुष परम पुरुषार्थ का साधन बतलाते है, वह ब्रह्मचर्य ही है। यज्ञ का जो भी फल है, उसे ब्रह्मचर्यवान् पुरुष प्राप्त करता है, इसलिए यज्ञ को भी ब्रह्मचर्य समझना चाहिए। श्रुति कहती है-जो ज्ञानवान् है वह उस ब्रह्मलोक को जो कि परम्परा से यज्ञ का भी फलस्वरूप है, ब्रह्मचर्य से ही

---

146 छान्दोग्योपनिषद्, 1.1.1 / 1.1.7 / 2.1.4

147 श्रीमद् भगवद्‌गीता, 18.5

148 मनुस्मृति, 12.104

प्राप्त करता है; अत: यह भी ब्रह्मचर्य ही है। 'यो ज्ञाता' इन अक्षरों की अनुवृत्ति होने के कारण ब्रह्मचर्य को ही यज्ञ कहा गया है।[149]

अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परमसंयम, परम यज्ञ, परम मित्र, परम सुख माना जाता है। अहिंसा से ही सर्व धर्मों की उत्पत्ति मानी गई है । सभी धर्मों में अहिंसा की महत्ता को स्वीकारा गया है। अहिंसा शब्द का पहली बार प्रयोग छान्दोग्योपनिषद् में हुआ है, जिसमें यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ, हवन आदि में भी अहिंसा को महत्त्व दिया जाना चाहिए। विद्यालयों या अन्यत्र भी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। अन्यत्र यह भी निर्देशित है कि एक वर्ष तक मांस भक्षण न करें अथवा मांस भक्षण न करें-इस नियम को धारण करें।[150] ब्रह्मज्ञानियों के हननकर्ता को तथा उसके साथ बुरा आचरण करने वालों को पतित माना है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों की हिंसा की बात तो दूर रही, अपितु वाङ्मात्र से कटुभाषण करने तक को हत्या सदृश माना गया है।

मनु ने धर्म के दश लक्षण बताये हैं- (1) धैर्य, (2) क्षमा, (3) मन को वश में करना, (4) चोरी न करना, (5) पवित्रता, (6) इन्द्रियों को वश में रखना, (7) सात्विक बुद्धि, (8) अध्यात्मविद्या, (9) सत्य, (10) क्रोध न करना।[151] उपनिषदों के अध्ययन से यह विदित है कि वे हमें सदाचरण की तरफ प्रेरित करती है। उपनिषदों में कर्म और ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की गई तथा दोनों के संयोग से जीवन के उत्कर्ष की बात की गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि-सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो, आचार्य के लिए प्रिय धन का आहरण कर प्रजातन्तु का व्यवच्छेद मत करो, धर्म से प्रमाद मत करो, शुभ कार्यों से प्रमाद मत करो, समृद्धि से प्रमाद मत करो, स्वाध्याय प्रवचन से प्रमाद मत करो, देवों और पितरों के कार्यों से प्रमाद मत करो। माता को देवता समझो, पिता को देवता समझो, आचार्य को देवता समझो, अतिथि को देवता समझो आदि।[152] इस तरह उपनिषदों में सदाचार को विशेष महत्त्व दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार *'आचारो परमो धर्म:'* (मनुस्मृति-1/108)-आचार ही परम धर्म है। अत: आत्मोन्नति चाहने वालों को हमेशा ही आचारयुक्त रहना चाहिए। आचार या आचरण धर्म की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व का माना गया है।

---

149 छान्दोग्योपनिषद् पर शांकर भाष्य, 8.5.1

150 अहिंसन् सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य:। -छान्दोग्योपनिषद् 8.15.1 / 2.19.2

151 धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। -मनुस्मृति 6.92

152 तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.11.2

जो सदाचार हमें अपनाने चाहिए उनका कई स्थानों पर उल्लेख किया गया है। जीवन की एक यज्ञ से तुलना की गई है जिसमें तप, दान, साधुता, अहिंसा और सत्यवादिता ही इसकी दक्षिणा है। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों की एक सूची देती है। उसे सत्य, सद्गुण, कल्याण, अभ्युदय, स्वाध्याय और उपदेश की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसे केवल यही कार्य करने चाहिए जो अनिंदनीय हों। आचार सम्बन्धी किसी कार्य के विषय में संदेह होने पर ब्रह्मचारी को उन ब्राह्मणों का अनुकरण करना चाहिए, जो निर्णय की क्षमता रखते हैं, प्रवीण हैं, निष्ठावान हैं और धर्म के मामले में बहुत कट्टर नहीं है।[153] उपनिषदों में ईश्वर का ध्यान, दानशीलता, सत्यव्यवहार, अहिंसा और सत्यभाषण, आत्मसंयम, उदारता और करुणा आदि सदाचार के प्रकार बताये गये हैं। राधाकृष्णन का कहना है कि-उपनिषदें नैतिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप पर बल देती हैं और आचरण के प्रेरक भाव को अधिक महत्त्व देती हैं। आभ्यन्तर पवित्रता बाह्य क्रियाकलापों एवं लक्षणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है। उपनिषदें केवल इतना ही आदेश नहीं करती कि 'चोरी मत करो', 'किसी की हत्या मत करो', बल्कि वे यह घोषणा भी करती हैं कि 'लोभ मत करो', अथवा 'किसी से घृणा मत करो एवं क्रोध, दुर्भावना तथा लालच के वशीभूत मत होओ।' मन को पहले अवश्य शुद्ध-पवित्र करना होगा, क्योंकि यदि जड़ को वैसे ही बना बहने दिया जाए तो केवल वृक्ष की पत्तियों को काट देने मात्र से कोई लाभ नहीं। आचरण का निर्णय उसके विषयीगत मूल्य किंवा त्याग की मात्रा के आधार पर किया जाता है।[154] उपनिषदों में आत्मतत्त्व ही जानने योग्य हैं, यही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सद्गुणों से युक्त होना साधक के लिए पर्याप्त नहीं है, परन्तु आत्म-तत्त्व के सम्यक् ज्ञान के लिए सद्गुरु की भी आवश्यकता होती है। सत्यकाम कहता है कि मैंने आप जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य द्वारा जानी गयी विद्या ही साधुता को प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य को गुरु के द्वारा शिक्षा नहीं मिलती है, तब तक वह आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य नहीं पा सकता है। इन्द्र तथा विरोचन आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रजापति के पास इसलिए जाते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि आत्म-ज्ञान गुरु से ही प्राप्त किया जा सकता है।[155]

1.2.9 मुख्य उपनिषदों में सदाचार (मूल्य) निरूपण :

मानुषी जीवन में जीवनमूल्यों का अतीव महत्त्व है। मूल्य के समानार्थी शब्दों में 'प्रतिमान' एवं 'मानदण्ड' उल्लेखनीय है। भारत में मूल्य सम्बन्धी चिंतन पुरुषार्थों के रूप में

---

153 तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.11.1-3

154 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-1, पृ.175

155 छान्दोग्योपनिषद्, 4.9.3 / 8.7.1

हुआ है। संस्कृत साहित्य में पुरुषार्थों को मानवीय जीवन के आधार रूप में दिखाया गया है। 'मूल्य' शब्द को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का सम्मिलित रूप माना गया है। वैदिक साहित्य में भी 'मूल्य' को 'जीवन इष्ट' या 'जीवन लक्ष्य' के रूप में स्थान मिला है। जिन सात्त्विक गुणों की चर्चा वैदिक साहित्य में हुई है–जो जीवन की श्रेयस् तथा प्रेयस् को बढ़ाने वाले हैं उन्हें 'मूल्य' माना जाता है। कुछ विद्धानों ने 'मूल्य' को संस्कृति का अभिन्न अंग रूप में आँकने की कोशिश की है। प्रत्येक समाज की संस्कृति के अपने 'मूल्य' होते हैं। एक समाज या देश के लिए जो श्रेष्ठ 'मूल्य' है, दूसरे के लिए उसका महत्त्वपूर्ण होना अनिवार्य नहीं। 'मूल्य' जीने का दृष्टिकोण है। 'मूल्य' मानवीय जीवन के ऐसे लक्ष्य हैं, दृष्टिकोण हैं, जो समाज द्वारा स्थापित किये जाते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य हैं, जो अदृश्य रूप में कार्य कलापों तथा विचारों को संचालित और संयमित करते हैं। जीवन की लयबद्धता बनाये रखने में या उसको परिवर्तित करने में 'मूल्यों' की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहाँ एक ओर 'मूल्य' समाज सापेक्ष होते हैं, वहाँ दूसरी ओर समाज 'मूल्य' सापेक्ष होता है।

'मूल्य' जीवन की अमूल्य नीधि है जो हमें सम्पन्न बनाते हैं। मूल्य जीवन में खुशी प्रदान करने वाले सच्चे मित्र हैं। इनसे जीवन वास्तविक तथा सार्थक बन जाता है। मूल्य हमें निर्बन्धन तथा स्वावलंबी बनाते हैं। एक आदर्श समाज में नैतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक मूल्य प्रचलित होते हैं एवं उसका सम्मान किया जाता है। मूल्य मूलत: धर्म एवं दर्शन के उद्देश्य को प्रतिबिंबित करते हैं। मूल्यों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इन्हें किसी परिधि में सीमांकित नहीं किया जा सकता। फिर भी कहा जा सकता है कि मूल्यों का सम्बन्ध जीवन, परिवेश, समाज-संस्कृति आदि से है। डॉ.राधाकमल मुकर्जी मूल्यों को इन क्षेत्रों के अतिरिक्त जीवन के आदर्शों एवं आध्यात्मिक चिंतन से भी जोड़ते हैं। उनका मानना है कि मूल्य जीवन, परिवेश, आत्म, समाज, संस्कृति और इन सबके अलावा मानवीय अस्तित्व, अनुभूति के आदर्शात्मक, आध्यात्मिक आयाम से उद्‌भूत होते हैं।[156] उद्देश्य की दृष्टि से 'मूल्य', 'मानव-मूल्य' और 'जीवन-मूल्य' एक-दूसरे के पूरक माने जाते हैं। कठिनाइयों को पार करने के लिए शरीर यथार्थ से टकराता हुआ चलता है और मस्तिष्क में आदर्श बिन्दु प्रतिष्ठित रहते हैं। यह आदर्श बिन्दु ही मनुष्य को, समाज को राष्ट्र को यथार्थ की कठोर भूमि पर चरण टिकाते हुए निरन्तर प्रेरित ही नहीं, कार्यरत भी करते रहते हैं। इन आदर्शों के लिए आधुनिक प्रचलित शब्द है 'जीवन मूल्य'।[157] जीवन-मूल्य मानवीय आचरण तथा व्यवहारों का एक

156 डॉ.हरिश सेठी : जीवनमूल्य विमर्श से उद्धृत, पृ.14

157 डॉ.टेस्सी जॉर्ज : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में मूल्य परिवर्तन से उद्धृत, पृ.14-15

मापदण्ड या मानक हैं। ये मानवीय अनुभवों के साथ ही विविध सांस्कृतिक, सामाजिक परम्पराओं पर भी अवलम्बित होते हैं। जीवन-मूल्यों के विविध-स्रोतों पर दृष्टिपात करने पर भारतीय दर्शन एवं सामाजिक मान्यताओं का विशेष स्थान प्रतीत होता है।

उपनिषदों में ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुनर्जन्म का सिद्धांत, परलोकवाद, कर्मविपाक का सिद्धांत, पुरुषार्थ अध्यात्मवाद, समन्वयवाद सत्संगति का महत्त्व जैसे दार्शनिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं का विवेचन हुआ है। ये सब नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रमुख स्रोत हैं। भारतीय परम्परा का तो प्रारंभ ही मानो ईश्वरवाद से होता है। वेदों के इन्द्र, पूषा, अग्नि, वरुणादि को अनेकों ने अपना परमेश्वर माना है। पुरुष सूक्त में परमेश्वर महिमा वर्णित है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की त्रिवेणी से ही भारतीय उपासना आगे बढ़ी है। उपनिषदों में ब्रह्मवाद के रूप में ईश्वरवाद का दार्शनिक वर्णन पाया जाता है। ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए उपनिषदों में शाश्वत सत्य को प्रकट करने वाले सिद्धांत पाये जाते हैं। अत: इनमें वैश्विक मूल्य समाहित हैं।

आत्मवाद के अनेक पर्याय उपनिषदों में मिलते हैं, यथा-आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, पराविद्या, ब्रह्मवाद आदि। उपनिषदें ब्रह्म से भी अधिक आत्मा को ज्ञातव्य और प्राप्य घोषित करती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा ही दृष्टव्य है, श्रोतव्य और मन्तव्य है, आत्मा ही निदिध्यासन का विषय है। आत्मा या ब्रह्म भूमा है, आत्मा या ब्रह्म ही विश्व का असीम शाश्वत मूलतत्त्व है। यह आत्मा सत्य, तप सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन यति देखते है, वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इसी शरीर के अंदर वर्तमान है।[158] मैत्रेयी अपने पति याज्ञवल्क्य से कहती है- *''येनांह नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्''*[159] मैत्रेयी का यह उद्‌गार उपनिषदों के चिरन्तन आत्म-चिन्तन का सूचक है। इसी तरह उपनिषदों में आत्म-तत्त्व चिंतन की प्रधानता रही है। आत्मवाद के संदर्भ में आत्म-नियंत्रण या आत्मानुशासन का विशेष महत्त्व है। सामान्यत: आत्म-नियंत्रण की मानव के इष्ट मूल्यों को अपनाने एवं आभ्यन्तरीकृत करने में प्रमुख रूप से सहायक होता है। आत्म-नियंत्रण भी एक महत्त्वपूर्ण नैतिक मूल्य है, जिसे हम विविध मूल्यों का आधार भी कह सकते है। सामाजिकता की दृष्टि से आत्म-नियंत्रण का विशेष महत्त्व है। चरित्र-निर्माण एवं उसके संतुलित विकास में भी आत्म-नियंत्रण का महत्त्व स्वीकार्य है।

---

158 मुण्डकोपनिषद्, 3.1.5

159 बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.5.4

उपनिषदों में पुनर्जन्म, परलोकवाद, कर्म सिद्धांत आदि सिद्धांतो का वर्णन मिलता है। पुनर्जन्म के सिद्धांत का मानवीय आचार-व्यवहार से, उसकी समझ-सोच एवं मान्यताओं से घनिष्ठ संबंध है। व्यक्ति में विधेयात्मक एवं वांछित आचार-व्यवहार तभी दृष्टिगत होंगे जबकि पूर्वजन्म या जन्मान्तर में उसकी आस्था होगी। अत: यह सिद्धांत हमारे नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को प्रभावित करने में सहायक रहा है। उपनिषदों में परलोकगमन का सूक्ष्म दार्शनिक वर्णन भी मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि 'अपने उत्तम कर्मो का फल भोगकर फिर जीवात्मा उसी मार्ग से लौटता है।'[160] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कर्म सिद्धांत के प्रति गहन आस्था व्यक्त की गयी है। इसके आधार पर उपनिषदों के ऋषियों ने संसार में दु:ख की उपस्थिति तथा मनुष्य-मनुष्य में असमानता की गुत्थी सुलझाने की चेष्टा की है। 'जो अच्छे काम करता है वह अच्छे फलों का उपभोग करता है। जो पापकर्म करता है वह पापी होता है।'[161] इस तरह उपनिषदों में जीवात्मा के गमनागमन को तथा कर्मानुसार जन्म की प्रक्रियाओं को सूक्ष्म रीति से समझाया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि परलोक के बनने-बिगड़ने के भय से, पाप-पुण्य के डर से लोग परंपरागत नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का पालन करते थे।

उपनिषदें मुख्य रूप से अध्यात्म का प्रतिपादन करती है। उनका लक्ष्य आत्मतत्त्व का साक्षात्कार अथवा आत्मपूर्णता की प्राप्ति है जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अध्यास से प्राप्त हो सकता है किन्तु इन साधनों के समुचित उपयोग के लिए लौकिक जीवन को संयमित करना आवश्यक है। इस संयम की प्रक्रिया में त्यागपूर्वक भोग, काम क्रोध आदि पर नियन्त्रण और भौतिक समृद्धि तथा शक्ति की अपेक्षा ज्ञान और समत्व भावना के विकास पर बल दिया गया है। त्यागपूर्वक भोग का निर्देश करते हुए ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि समस्त वस्तु जगत ईश्वर से व्याप्त है इसलिए त्याग के साथ भोग का अभ्यास होना चाहिए तथा किसी अन्य के हिस्से का लोभ नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय और आनंदमय कोशों की व्याख्या के संदर्भ में विचारकों का कहना है कि जब मन अन्न और प्राण के अधिकाधिक अर्जन और संग्रह में लगता है तो जीवन में संघर्ष, विषमता और विकृति का विकास होता है; किन्तु जब मन विज्ञान और आनंद के अर्जन और संग्रह में लगता है तो जीवन में समत्व शान्ति और सद्‌भाव का विकास होता है।[162] इस तरह

160 तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। -छान्दोग्योपनिषद् 5.10.5

161 साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। -बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.5

162 रघुनाथ गिरि : आचारशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य, पृ.16-17

उपनिषदों में आत्मपूर्णता की प्राप्ति अर्थ लौकिक जीवन को संयमित करने के लिए त्याग, समत्व, शान्ति जैसे मूल्यों को विकसित करना आवश्यक माना गया है।

उपनिषदों में सदाचार का बार-बार कथन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में जीवन की एक यज्ञ से तुलना की गई है, जिसमें तप, दान, साधुता, अहिंसा और सत्यवादिता को ही दक्षिणा कही गई है। बृहदारण्यकोपनिषद् में सभी सद्गुणों को तीन 'द' कारों में संकलित कर दिया गया है। वे इस प्रकार है : 'दम' अर्थात् आत्मनिग्रह, 'दान' और 'दया'।[163]

इससे स्पष्ट होता है कि दमन, दान और दया तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति प्रधान मनुष्यों के लिए तीन अलग-अलग मुख्य गुण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में घोर अंगिरस के और देवकी के पुत्र कृष्ण के संवाद में सद्गुणों का एक सूची के रूप में वर्णन मिलता है। मनुष्य के प्रधान सद्गुण तप, दान, ऋजुता अहिंसा और सत्य है। घोर अंगिरस के अनुसार ये मनुष्य के प्रधान गुण है। श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीता में भी सद्गुणों की उपलब्ध सूची का भी साम्य है।[164] जिसमें अहिंसा, सत्य, त्याग, तेजादि सम्मिलित है। उपनिषदों में सत्य, अहिंसा, त्याग, दान, दया (करुणा), तप, ऋजुता आदि मूल्य समाहित है।

उपनिषदों का सम्बन्ध मूलत: अध्यात्म से है। आध्यात्मिक आधार पर अपने आपको जानने के प्रयास के रूप में ऋषियों-मुनियों द्वारा इस जगत् और जगत् के निर्माता को भी जानने के प्रयास का फल है-ब्रह्म, जीवन एवं जगत् के प्रति विशिष्ट दृष्टि। उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म, जीव, जगत और माया के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा की गई है। यहाँ दार्शनिक सिद्धांतों में ब्रह्म, जीव, जगत् और माया एवं उनमें पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित दार्शनिक मूल्यों का समावेशन है। धर्म का पालन करने की आवश्यकता पर बल देते हुए व्यक्ति मन को स्वार्थ से हटाकर परमार्थ की ओर ले जाने को प्रवृत्त करता है। इसके मूल में मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित करने का भाव रहा है। इस हेतु स्थापित आदर्श है- 'धार्मिक मूल्य'।[165]

उपनिषदों में मोक्ष को चरम लक्ष्य माना गया है। आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक मूल्यों के अंतर्गत मोक्ष को चरम मूल्य माना गया है। मोक्ष, समयानुसार जन-जन के मन में 'अव्यक्त शक्ति' की सत्ता में विश्वास और ईश्वरीय अनुग्रह के प्रति आग्रह तथा दार्शनिक चर्चा

---

163 बृहदारण्यकोपनिषद्, 5.2.3

164 श्रीमद् भगवद्गीता, 16.1-3

165 डॉ.हरिश सेठी : जीवनमूल्य विमर्श, पृ.186

की पृष्ठभूमि पर परम ऐक्य की कामना को जन्म देता है। इस कारण मोक्ष को मानव-जीवन के मूल्यों की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप कहा जाता है।

जिसका लक्ष्य है-आत्मा का संतोष, जिसे परम्परागत दृष्टि में 'मोक्ष' कहते हैं। यह जीवन का साध्य मूल्य है, इससे बढ़कर कोई अन्य मूल्य नहीं है। इसी से मानव शुद्ध स्वरूप को पाता है। परम्परागत दृष्टि मोक्ष को आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की स्थिति का परिचायक भले ही बनाए, किन्तु पुरुषार्थ के रूप में यह आत्मा की भूख को मिटाने वाले जीवन-मूल्यों का सूचक है। हम आत्मा की परितृप्ति को ही मोक्ष कह सकते हैं। मानव इस मोक्षोपाय हेतु अपने जीवन को अनेक विध गुणों से सम्पन्न बनायेगा।

1.3 भारतीय दर्शन की रूपरेखा :

अनादि काल से संसार में दुःख है और दुःख की निवृत्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषियों ने अपनी तापसी प्रकृति से इसे दूर करने के उपाय किये हैं। बाह्य और आभ्यन्तर साधनों के द्वारा ज्ञानी लोग अपनी-अपनी तपस्या में सफल भी हुए हैं। परम तत्त्व के ज्योतिर्मय स्वरूप का उन लोगों ने साक्षात्कार किया है। अपने-अपने अनुभवों को शब्दों के द्वारा लोगों के कल्याण के हेतु उन्होंने अपनी शिष्य परम्परा को सिखलाया है। एक व्यक्ति-विशेष की दृष्टि के अनुसार जिस शास्त्र या ग्रन्थ में परम तत्त्व का साक्षात् प्रतिपादन किया गया हो तथा उस अनुभूति के साधन-मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही दर्शनशास्त्र है। भारतीय दर्शन को निम्नलिखित रूप में विभाजित कर सकते हैं-(1) वैदिक काल (2) महाकाव्य काल (3) सूत्र काल (4) वर्तमान तथा समसामयिक काल।

वैदिक काल भारतीय दर्शन का प्राचीनतम एवं आरम्भिक अंग है। इस काल में वेद और उपनिषद् जैसे महत्त्वपूर्ण दर्शनों का विकास हुआ है। यह कहना अनुचित न होगा कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन वेद और उपनिषद् की विचारधाराओं से प्रभावित है। वेद ईश्वरीय वाणी है। प्राचीनतम मनुष्य की दार्शनिक विचारधाराओं का मानव-भाषा में सबसे पहला वर्णन वेद में निहित है। चतुर्वेद को आस्तिक दर्शनों ने प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। उपनिषदों को वेदान्त इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें वेदों का निचोड़ है। अनेक उपनिषदों में से सिर्फ दश उपनिषदों का ही अधिकाधिक स्वीकार हुआ है। उसमें धार्मिक, वैज्ञानिक व दार्शनिक विचार विद्यमान है। इसके अध्ययन से मानव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। मानवजाति का मार्ग प्रशस्त करने वाली उपनिषदें विश्व-साहित्य के रूप में भी स्वीकृत हुई हैं। भारतीय दर्शन का दूसरा महत्त्व का काल महाकाव्य काल है। इस काल में ही महाभारत और रामायण जैसे धार्मिक व दार्शनिक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है। जैन और बौद्ध धर्म भी इसी समय की देन है।

भारतीय दर्शन का तीसरा काल सूत्र काल के रूप में पहचाना जाता है। सूत्र-साहित्य के रूप में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त जैसे महत्त्वपूर्ण दर्शनों का क्रमिक विकास हुआ। षड्दर्शनों के कारण भारतीय दर्शन में इस काल को भी महत्त्व दिया जाता है। वेदान्त दर्शन के बाद कई शताब्दियों तक भारत में दर्शन में दृष्टव्य प्रगति ही न हुई। अद्वैत वेदान्त की चरम परिणति के बाद दर्शन की प्रगति का मन्द होना स्वाभाविक था।

भारतीय दर्शन का चौथा काल, वर्तमान काल तथा समसामयिक काल, राजाराम मोहनराय के समय से शुरू होता है। इस काल के मुख्य दार्शनिकों में महात्मा गाँधीजी, रविन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ.राधाकृष्णन, के.सी.भट्टाचार्य, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, आदि मुख्य हैं। इन सभी दार्शनिक विद्वानों ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को वेद और उपनिषदों के संदर्भ में पुनर्जीवित किया है।

● **दर्शनों की संख्या :**

भारतीय दर्शन का जिन विभिन्न शाखाओं या सम्प्रदायों में विकास हुआ, यदि उनके आधार पर यह निश्चित किया जाय कि संख्या में वे कितने हैं, तो इसका एक निश्चित उत्तर नहीं मिलेगा। दर्शनों की वास्तविक संख्या के सम्बन्ध में यह मत-मतांतर प्राचीन ग्रन्थकारों में भी पाया जाता है। प्राय: 'षड्दर्शन' नाम के आधार पर दर्शनों की संख्या छह मानी जाती है। इस आधार पर यदि समस्त दर्शन-शाखाओं का वर्ग-विभाजन या क्रम-निर्धारण किया जाय तो कोई संतोषजनक निष्कर्ष नहीं निकल पाता। यह नाम न तो अधिक प्राचीन है और न उसके अंतर्गत परिगणित होने वाले दर्शनों का क्रम ही प्रामाणिक है। वस्तुत: जिस ग्रन्थकार को जब भी जो नाम सूझे उन्हीं को षड्दर्शन के अंतर्गत रखा गया। कुछ ग्रन्थकारों ने दर्शनों की संख्या छह से कम और कुछ ने छह से अधिक मानी है।[166] दर्शनों की संख्या को लेकर जो मत प्रस्थापित हैं, उसे विद्वानों की देन समझकर हमें मूल्यांकित करना चाहिए।

पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्न: स्तोत्र' में सांख्य, योग, पाशुपत मत तथा वैष्णव; कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में सांख्य, योग तथा लोकायत; हयशीर्षपञ्चरात्र तथा गुरुगीता में गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि, व्यास तथा जैमिनि; 'सर्वसिद्धांत संग्रह' में शंकराचार्य ने लोकायत, आर्हत, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक), वैशेषिक, न्याय, भाट्ट और प्रभाकर मीमांसा, सांख्य, पतंजलि, वेद व्यास तथा वेदान्त; ग्यारहवीं सदी के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, आर्हत, बौद्ध तथा चार्वाक; बारहवीं सदी के हरिभद्र सूरि ने अपनी 'षड्दर्शन समुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक

166 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.25

तथा जैमिनि; तेरहवीं सदी के जिनदत्त सूरि ने अपने 'षड्दर्शन समुच्चय' में जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव तथा नास्तिक; चौदहवीं सदी के राजशेखर सूरि ने जैन, सांख्य, जैमिनि, योग (न्याय), वैशेषिक तथा सौगत; प्रसिद्ध काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा कणाद; 'सर्वमत संग्रह' के रचयिता ने मीमांसा, सांख्य, तर्क, बौद्ध, आर्हत तथा लोकायत; माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश-पाशुपत, शैव, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातंजल और शंकर; मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धांत बिन्दु' तथा 'शिवमहिम्नः स्तोत्र' की टीका में न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीरक-मीमांसा, पातंजल, पञ्चरात्र, पाशुपत, बौद्ध, दिगम्बर, चार्वाक, सांख्य और औपनिषद, इन दर्शनों के सम्बन्ध में नामोल्लेखपूर्वक विचार किया है।[167] इस विवरण में भारतीय दर्शनों का थोड़ा-बहुत निर्देश मिल जाता है।

- **भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण :**

भारतीय दर्शन रूपी तरु में अनेक शाखा-प्रशाखाएँ शुरुआती समय से ही रही है। हमारी संस्कृति की एक सबसे बड़ी विशेषता रही है कि हर एक ने अपने विरोधी के विचार भी खुले दिल से सुने हैं। यदि कहीं आलोचना हुई है तो अच्छी बातों के लिए सम्मान भी किया गया है। शायद यही कारण है कि हमारे देश में एक ही समय में परस्पर विचारधारा वाले दर्शन भी समानान्तर विकसित हुए हैं।भारतीय दर्शनों को सामान्यतया दो वर्गों में बाँटा जाता है- आस्तिक और नास्तिक। कुछ विद्वान इसे वैदिक और अवैदिक या ब्राह्मण और श्रमण जैसे वर्गों में विभाजित करते हैं। आस्तिक और नास्तिक दर्शन का ही विशेष स्वीकार हुआ है।

- **आस्तिक और नास्तिक दर्शन :**

सामान्य रूप में आस्तिक का अर्थ ईश्वर और परलोक में विश्वास रखने वाले, अपनी धर्म-परम्परा में विश्वास रखने वाला।[168] तथा नास्तिक का अर्थ जो वेदों की प्रामाणिकता, पुनर्जन्म और परमात्मा या विश्व के विधाता के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखने वाला[169] लिया जाता है। भारतीय दर्शन के सभी आस्तिक दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हों और नास्तिक अस्वीकार करते हों ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यहाँ आस्तिक और नास्तिक का अर्थ दूसरा है। मनु की परिभाषा *'नास्तिको वेद निन्दकः'*[170] के आधार पर नास्तिक उसे कहा गया

---

167 डॉ.उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ.17

168 वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत हिन्दी कोश, पृ.168

169 वही, पृ.521

170 मनुस्मृति, 2.11

जो वेद-निन्दक है अथवा जो वेद की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता। इसके विपरित आस्तिक वह है जो वेदों का भक्त है और इस तरह वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार करता है।

आस्तिक से आशय ईश्वर पर विश्वास करना और नास्तिक से आशय ईश्वर पर विश्वास न करना नहीं है; क्योंकि सांख्य और मीमांसा में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है, जब कि वे आस्तिक की कोटि में रखे गये हैं। इसी प्रकार आस्तिक का अभिप्राय पूर्वजन्म को मानने और नास्तिक का अभिप्राय पूर्वजन्म को न मानने से भी नहीं है, क्योंकि पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले जैन और बौद्ध दर्शन इसके उदाहरण हैं, जिन्हें कि नास्तिक कहा गया है। इसीलिए आस्तिक दर्शन वे हैं, जो वेदों को और वेदों की प्रमाणिकता को मानते हैं और नास्तिक दर्शन वे हैं जो वेदों तथा उनकी प्रामाणिकता को नहीं मानते।[171] इस तरह भारतीय दर्शन में वेद-विरोधी नास्तिक तथा वेद-समर्थक आस्तिक दर्शन कहलाये। भारतीय दर्शन का वर्गीकरण में वेद की महत्ता प्रदर्शित हुई है। अत: आस्तिक दर्शन को वैदिक दर्शन भी कहा जाता है। आस्तिक दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत जैसे षड्दर्शन आते हैं; क्योंकि वे वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें इसलिए भी आस्तिक कहा जा सकता है क्योंकि ये परलोक की सत्ता में विश्वास करते हैं।

नास्तिक दर्शन में चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन का समावेश होता है; क्योंकि वे वेद को नहीं मानते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर के विचार का खण्डन तथा अनीश्वरवाद को अपनाने के कारण भी उन्हें नास्तिक कहा जा सकता है। वेदों को अप्रमाण मानने के कारण ही नास्तिक दर्शन अवैदिक दर्शन हैं।

1.3.1 आस्तिक दर्शन :

पहले हम देख चूके हैं कि वेद सापेक्ष विचारधारा वाले दर्शन को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। इनमें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत दर्शन का समावेश होता है। यहाँ हम विभिन्न आस्तिक दर्शनों पर बहुत ही संक्षेप में दृष्टिपात करेंगे-

1.3.1.1 सांख्य दर्शन :

सांख्य-दर्शन भारतीय दर्शनों में अत्यधिक प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। सांख्य के विचार अपने मूल रूप में कपिल से भी प्राचीन हैं। सांख्य के विचारों एवं सिद्धांतों का 'कठ', 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर' और 'मैत्रेय' आदि उपनिषदों तथा 'महाभारत' एवं 'गीता' आदि अनेक ग्रन्थों में अनेक रूप से

171 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.26

दृष्टिगोचर होते हैं। उपरोक्त ग्रन्थों में सांख्य दर्शन का उल्लेख उसकी प्राचीनता की पुष्टि और सबल प्रमाण है। सांख्य-दर्शन प्राचीन होने के साथ-ही-साथ मुख्य दर्शन भी है।

यह सत्य है कि भारतवर्ष में जितने दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ उनमें वेदान्त सबसे प्रधान है। परन्तु वेदान्त-दर्शन के बाद यदि यहाँ कोई महत्त्वपूर्ण दर्शन हुआ तो वह सांख्य ही है। प्रोफेसर मैक्समूलर ने भी वेदान्त के बाद सांख्य को ही महत्त्वपूर्ण माना है। यदि वेदान्त को प्रधान दर्शन कहें तो सांख्य को उप-प्रधान दर्शन कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।[172] अत: सांख्य-दर्शन प्राचीन और उप-प्रधान दर्शन है।

'सांख्य' शब्द का विद्वानों ने अनेक प्रकार का अर्थ किया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस दर्शन का 'सांख्य' नामकरण इसलिए हुआ, क्योंकि इसमें सर्व प्रथम पच्चीस तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गयी है। 'भागवत' में इसी उद्देश्य से प्रस्तुत दर्शन को 'तत्त्व-संख्यान' कहा गया है, जिसको कि टीकाकार श्रीधर स्वामी ने 'तत्त्वगणक' के नाम से कहा। अत: तत्त्वों की प्रमाणिक एवं वैज्ञानिक गणना का आधारभूत शास्त्र होने के कारण इसको 'सांख्य' कहा गया। 'सांख्य' शब्द के इस आशय के विपरित दूसरे विद्वानों का कथन है कि ज्ञान का सम्यक् निदर्शन होने के कारण उसका नाम 'सांख्य' पड़ा। 'सम्' पूर्वक 'ख्याञ्' धातु से 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है सम्यक् ख्यान, सम्यक् विचार या सम्यक् ज्ञान। इस सम्यक् ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध है। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है पुरुष और प्रकृति के बीच की भिन्नता का ज्ञान। अत: 'सांख्य' शब्द का अर्थ तत्त्व-संख्यान या तत्त्व-गणना न होकर सम्यक् ज्ञान या सम्यक् विचार है। डॉ. राधाकृष्णन भी मानते हैं कि यह सैद्धांतिक अनुसंधान के द्वारा अपने परिणामों तक पहुँचता है, इसलिए सांख्य कहलाता है।[173]

अविद्या के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है और इसलिए तब तक वह दु:ख से निवृत्त नहीं हो सकता है। जब तक जीव सत्त्व-रज-तम-रूप अविद्या को त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् करके नहीं देखता तब तक वह दु:खों से छुटकारा नहीं पा सकता है। सांख्य दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से जिज्ञासु को विवेकबुद्धि होती है और तभी वह अविद्या से आच्छादित आत्मा को मुक्त करता है; अविद्या के इस बन्धन को तोड़ डालता है।[174]

---

172 प्रो.हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.228

173 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन-2, पृ.214-215

174 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.252

महर्षि कपिल भारतीय परम्परा में सर्वाधिक सम्मानित व सिरमौर स्थान प्राप्त हैं। गीता में कपिल को अपनी विभूति के रूप में स्वीकारा है। "*सिद्धानां कपिलो मुनिः*"[175] अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। महाभारत में इन्हें 'परमर्षि' कहा गया है। श्वेताश्वरोपनिषद् में भी कपिल का नाम आया है । यहाँ उपनिषदकार का कहना है-जो व्यक्ति आदिकाल में उत्पन्न कपिल के सिद्धांत को जानता है, उसे ज्ञान और कीर्ति मिलती है।[176] विदेशी विद्वान मैक्समूलर भी कपिल के महत्त्व को स्वीकारते हैं। सांख्यदर्शन का आधार कपिल द्वारा निर्मित 'तत्त्व समास' एवं 'सांख्य-सूत्र' (सांख्य-प्रवचन-सूत्र) माने जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि कपिल ने 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' और 'तत्त्व समास' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं, पर दुर्भाग्यवश कपिल के दोनों ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं। इन ग्रन्थों का कोई प्रमाण आज प्राप्त नहीं है। कपिल की शिष्य परम्परा में आसुरि एवं पंचशिखाचार्य के नाम मिलते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों के अभाव में ईश्वरदत्त प्रणीत 'सांख्यकारिका' महत्त्वपूर्ण है । यह सांख्य का प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 72 छोटी-छोटी कारिकाओं में सांख्यदर्शन की व्याख्या की गई है। सांख्यदर्शन की व्याख्या विशेषतः 'सांख्यकारिका' को आधार मानकर की जाती है। इसके अध्ययन से सांख्यदर्शन का परम्परागत ज्ञान प्राप्त किया जाता है। लोग इसे 'कनक सप्तति', 'सांख्य सप्तति', 'सुवर्ण सप्तति' आदि नाम से भी जानते हैं।

सांख्यदर्शन तत्त्वप्रधान दर्शन है। इसमें सूक्ष्म तत्त्वों की मीमांसा बड़े सटीक ढंग से की गई है। ईश्वरदत्त लिखित कारिका को प्रामाणिक मानकर शंकराचार्य आदि विद्वानों ने इसकी तर्कबद्ध चर्चा की है। सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद, द्वैतवाद, त्रिविध दुःख, पच्चीस तत्त्व, निरीश्वरवाद, विकासवाद, ईश्वर सम्बन्धी विचार, बन्धन और मोक्ष, नीतिशास्त्र, परलोकजीवन, प्रमाणज्ञान के उपकरण आदि दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन है । सांख्य का सारा दर्शन कार्य-कारण सिद्धांत पर आधारित है। सांख्य का कार्य-कारण सिद्धांत ही सत्कार्यवाद के नाम से जाना जाता है। भारतीय दार्शनिकों ने कार्य-कारणवाद पर ही विशेष चिन्तन किया है। सांख्य में सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' में पाँच युक्तियाँ दी है। ये तार्किक युक्तियाँ भारतीय दर्शन में अत्यधिक प्रसिद्ध है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति को 'प्रधान', 'माया', 'जड़', 'अव्यक्त', 'शक्ति', 'अविद्या', 'अविनाशी' आदि नामों से भी दर्शाया गया है। प्रकृति की अन्य विशेषताएँ जैसे कि अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व, अहेतु सर्वव्यापक, नित्य एवं अनश्वर, सर्वव्यापक, अक्रिय, एक, अनाश्रित-

175 श्रीमद् भगवद्गीता, 10.26

176 ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे। ज्ञानैबिभर्ति जायमानं च पश्येत्।। -श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.2

अलिंग, निरवयव, स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मिका, अविवेकी, विषय, अचेतन, सामान्य, प्रसवधर्मी आदि है। सांख्य की यह प्रकृति समस्त भौतिक एवं मानसिक जगत् का मूल कारण है। इस प्रकृति की सिद्धि के लिए सांख्य ने अनेक तर्क दिये हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये तीन गुण है-सत्त्व, रज और तम। इन्हीं तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति प्रधान या अव्यक्त है। इन तीनों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उनमें क्रिया नहीं होती है। ये अलग-अलग तीन तत्त्व न होकर त्रिगुणात्मक एक ही तत्त्व है। सांख्यकारिका के अनुसार सत्त्वगुण का स्वभाव लघु, प्रकाशक, इष्ट (आनन्द स्वरूप); रजोगुण का स्वभाव गतिशील (चंचल), उत्तेजक; और तमोगुण का स्वभाव गुरू (भारी) एवं अवरोधक होता है।[177]

सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों को मूल मानता है। अत: उसे द्वैतवादी दर्शन भी कहा जाता है। यहाँ पुरुष का अर्थ 'विशुद्ध आत्मा' है, जो शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि से सर्वथा पुथक् तत्त्व है। पुरुष की सत्ता स्वयंसिद्ध है। 'मै हूँ', 'यह मेरी किताब है'- यहाँ मैं और मेरा आत्मा का ही परिचय देता है। सांख्य के अनुसार पुरुष रूप एक ओर तो प्रकृति से भिन्न पड़ता है और दूसरी ओर व्यक्त पदार्थों में भी। पुरुष शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न एवं स्वतन्त्र होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में होता है। वह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। वह चैतन्य का आधाररूप द्रव्य नहीं है, बल्कि स्वयं चैतन्य रूप ही है। चैतन्य उसका गुण नहीं, प्रत्युत स्वभाव है। सांख्य मत इस विषय में वेदांत से भिन्न पड़ता है।[178]

सांख्य में पुरुष प्रकृति से भिन्न तत्त्व है। सांख्य में पुरुष बहुत्व को स्वीकृति मिली है।[179] पुरुष के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के लिए भी सांख्यदर्शन में कुछ तर्क दिये गये हैं- संघात् (वस्तु) का अन्य के लिए, त्रिगुणादिविपर्यय से, अधिष्ठान से, भोक्तृत्त्व होने से और कैवल्य (मोक्ष) के लिए प्रवृत्ति होने से पुरुष का अस्तित्त्व सिद्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य में पुरुष एक ऐसा तत्त्व है जो प्रकृति से भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखता है, जो नित्य ज्ञानस्वरूप, मुक्त, त्रिगुणातीत, निष्क्रिय, अभोक्ता, सुख-दु:ख से परे तथा अनेक है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सांख्य की सृष्टि रचना होती है। अत: 'प्रकृति' और 'पुरुष' उसके दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं दो मूल तत्त्वों से जगत् का विकास है। सांख्य बताता है

---

177 सांख्यकारिका, 13

178 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.264

179 जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद् अयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययात्त्वैव ।। - सांख्यकारिका 18

कि सृष्टि विकास में पुरुष की तुलना में प्रकृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अन्धे और लँगड़े का उदाहरण इस बात की पुष्टि करता है।[180]

सांख्यदर्शन ने तीन प्रमाण माने हैं, यथा-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आप्तवचन)। ये तीनों प्रमाण सांख्य मत के पच्चीस तत्त्वों को जानने के लिए हैं, अन्य किसी वस्तु को जानने के लिए नहीं है। इन तीनों प्रमाणों से सांख्यशास्त्र के सभी तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। सांख्य में 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' ये तीन प्रकार के प्रमेय हैं। 'व्यक्त' का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, जो अतिन्द्रिय हों, जिनका 'प्रत्यक्ष' से ज्ञान न हो, उनका 'अनुमान' से ज्ञान होता है। 'अव्यक्त' अतिन्द्रिय है, परोक्ष है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, अतएव इसका ज्ञान 'अनुमान' से होता है। इसके अतिरिक्त जो परोक्ष हों और जिनका ज्ञान 'अनुमान' से भी न हो सके उनका ज्ञान 'आप्तागम' से होता है।[181] 'ज्ञ' अतिन्द्रिय है। अतएव 'अनुमान' से इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए वेदवाक्य के ही द्वारा, अर्थात् आप्तागम के द्वारा, 'ज्ञ-पुरुष' के अस्तित्व की सिद्धि होती है। तीन प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की सांख्य में आवश्यकता नहीं है, इसलिए उनके सम्बन्ध में सांख्य में कोई भी विचार नहीं है।

अन्य भारतीय दर्शनों के समान सांख्यदर्शन भी इस संसार में मनुष्य के जीवन को दु:खदायी मानता है। विशेषकर बौद्धदर्शन के समान ही वह भी मनुष्य के दु:ख के कारणों पर गहन चिन्तन करता है। सांख्यदर्शन में मोक्ष का अर्थ दु:खों से मुक्ति है। यह मोक्ष की प्राप्ति एकमात्र विवेकज्ञान से ही सम्भव है। सांख्य के अनुसार 'मैं' वास्तविक रूप में असंग पुरुष है, जो वस्तुत: शरीर, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय आदि से परे है, नित्य मुक्त है, निर्गुण है। पुरुष वस्तुत: बन्धन में पड़ता ही नहीं है क्योंकि पुरुष में चेतनत्व और अविषयत्व धर्म होते हैं। अत: वही दृष्टा और साक्षी है। इस दृष्टि से पुरुष बंधन में पड़ता ही नहीं। सांख्य के मुताबिक ज्ञान से मोक्ष तथा इसके विपरित अज्ञान से बन्धन होता है।[182] यह दर्शन मुक्ति दो प्रकार की मानता है-जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। शरीर रहते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति करना ही जीवनमुक्ति है, अर्थात् विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे जीवनमुक्ति कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् मिलने वाली मुक्ति 'विदेहमुक्ति' है।

---

180 पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग:।। -सांख्यकारिका 21

181 सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।। -सांख्यकारिका 6

182 ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध:। -सांख्यकारिका 44

शरीर के नाश होने पर पुरुष एकान्तिक (अवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दु:खत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। इसी की शास्त्रीय संज्ञा 'विदेहमुक्ति' है।[183]

ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्यकारों के दो मत है। कुछ सांख्यकारों ने ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं मानी तो कुछ सांख्यकारों ने ईश्वर का अस्तित्व स्वीकारा है। सांख्यदर्शन को निरीश्वर समझना बड़ी भारी भूल होगी। सांख्यदर्शन ने ईश्वर पर सृष्टि के कर्तृत्व का भार नहीं थोपा है। सृष्टि के कर्तृत्व का भार उठाने के लिए तो प्रकृति ही पर्याप्त है। शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर, सृष्टि का कारण इसलिए नहीं माना जा सकता कि कारण तथा परिणाम वस्तुत: अभिन्न होते हैं। कारण ही परिणाम में परिणत हुआ करता है। ईश्वर तो संसार के रूप में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि वह परिवर्तनशील नहीं है। सांख्यदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट पुरुष के रूप में माना है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का कथन है, वे कहते हैं कि ईश्वर प्रकृति का दृष्टामात्र है, स्रष्टा नहीं।[184] सांख्यदर्शन में संसार के दु:खों की अत्यधिक महत्ता दी गई है। विश्व तीन प्रकार के दु:खों से व्याप्त है। कुछ आलोचकों ने सांख्यदर्शन को निराशावादी कहा है। परन्तु इस आक्षेप के विरुद्ध में यह कहा जा सकता है कि सांख्य को निराशावादी कहना भ्रामक है। बुद्ध की तरह सांख्य सिर्फ संसार को दु:खमय बतलाकर ही नहीं मौन होता है, बल्कि दु:खों के निवारण का उपाय ढूँढने का प्रयास भी करता है। अत: सांख्य-दर्शन में भी बुद्ध की तरह निराशावाद आरम्भबिन्दु है अन्त नहीं।[185]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि सांख्य ने पुरुष और प्रकृति को ही मौलिक तत्त्व माना है। सांख्य की पदार्थमीमांसा वैशेषिकों की तत्त्वमीमांसा से कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रस्तुत की है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अनेक स्थलों पर सांख्यसम्मत तत्त्वों का प्रत्याख्यान किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरकभाष्य में सांख्य को प्रधान मल्ल कहा है। सांख्य का तत्त्वज्ञान बहुत दूरगामी तथा तलस्पर्शी है। सांख्य की तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा उस स्थान तक पहुँची जहाँ से वेदांत ने भी ग्रहण कर ली। इस सांख्यज्ञान के आद्यस्थापक महर्षि कपिल की विवेकबुद्धि की सब दर्शनों में प्रशंसा की जाती है।

1.3.1.2 योग दर्शन:

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। अत: इस दर्शन को पातंजल दर्शन भी कहा जाता है। यह एक व्यावहारिक दर्शन है। इस दर्शन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति

---

183 प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
एकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।। -सांख्यकारिका 68

184 डॉ.गजाननशास्त्री मुसलगांवकर : हिन्दी सांख्यतत्त्वकौमुदी, भूमिका से, पृ.16

185 प्रो.हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.269

है। यहाँ मोक्ष की प्राप्ति के लिए विवेक ज्ञान को ही पर्याप्त नहीं माना गया, बल्कि योगाभ्यास पर भी बल दिया गया है। योग-दर्शन अन्य दर्शनों की तरह तत्त्वमीमांसा के प्रश्नों में न उलझकर मुख्यत: मोक्षप्राप्ति के उपायों को बताने वाले दर्शन की प्रस्तुति करता है। किन्तु मोक्ष पर चर्चा करने वाले प्रत्येक दर्शन की कोई न कोई तात्त्विक पृष्ठभूमि अर्थात् तत्त्वमीमांसा होनी आवश्यक है। इस हेतु योगदर्शन, सांख्यदर्शन का आश्रय ग्रहण करता है, अर्थात् उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा को स्वीकार कर लेता है।[186] योगदर्शन सांख्य की तरह द्वैतवादी है। सांख्य के तत्त्व को वह पूर्णत: स्वीकार करता है। उसमें यह सिर्फ ईश्वर को जोड़ देता है, इसलिए योग को 'सेश्वर सांख्य' भी कहा जाता है।

योगसिद्धांत अत्यंत प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा है। योग महर्षि पतंजलि से आरम्भ नहीं होता। यह बहुत ही प्राचीन अध्यात्म प्रक्रिया है। संहिताओं में, ब्राह्मणों में तथा उपनिषदों में इसका कहीं तो संकेत है और कहीं इसका सुन्दर विवेचन है।[187] इस बात का डॉ.राधाकृष्णन भी समर्थन करते हैं-''उपनिषद् महाभारत-जिसमें भगवद्गीता भी शामिल है-जैनमत तथा बौद्धमत योग सम्बन्धी क्रियाओं को स्वीकार करते हैं योग सिद्धांत को इतना पुरातन बताया जाता है, जितना की ब्रह्मा है।''[188] योग सिद्धांत जैसे महर्षि पतंजलि के पूर्व प्रसिद्ध था, वैसे ही पश्चात् भी विद्यमान रहा। चार्वाक दर्शन को छोड़कर बाकी सभी दर्शनों ने योग का महत्त्व स्वीकार है, परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि योगदर्शन को एक शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय नि:संदेह पतंजलि को है।

योगदर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ महर्षि पतंजलि का 'योगसूत्र' है। इसके चार पाद हैं और 194 सूत्र हैं। पहले पाद में समाधि के स्वरूप तथा लक्ष्य का प्रतिपादन है-इसे 'समाधिपाद' कहते हैं। द्वितीय 'साधनपाद' में लक्ष्य प्राप्ति के साधनों की व्याख्या है। तीसरे 'विभूतिपाद' में योग की क्रियाओं से प्राप्त अलौकिक सिद्धियों का वर्णन है और चौथे 'कैवल्यपाद' में मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। 'योगसूत्र' पर व्यास का 'भाष्य' तथा व्यास के भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी टीका' और विज्ञान भिक्षु की 'योगवार्तिक टीका' एवं 'तत्त्व-वैशारदी' पर राघवानन्द का 'पतंजलि-रहस्य' आदि इस दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अलावा भोज की 'भोजवृत्ति', भावगणेश की 'नागेशवृत्ति', अनन्त पण्डित की 'योगचन्द्रिका', यति की 'मणिप्रभा', सरस्वती का 'योग-सुधाकर' आदि योगदर्शन की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

---

186 डॉ.शोभा निगम : भारतीय दर्शन, पृ.148

187 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.284

188 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-2, पृ.292

सामान्यत: 'योग' योगदर्शन का ही विषय नहीं है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, उन सबका एक ही उद्देश्य है कि भगवान को पा लेना। यही भगवत्स्वरूप हो जाना ही 'योग' है। शाब्दिक दृष्टि से 'योग' शब्द के अनेक अर्थ हैं। इनमें से योग का 'जोड़ना' अथवा 'मिलाना' अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। वेदान्त में 'योग' का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'योग' शब्द समाध्यर्थक 'युज्' धातु (युज् समाधौ) से निष्पन्न होता है । अत: योग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ समाधि है। योग-दर्शन में 'चित्तवृत्ति को रोकना' को ही योग कहा गया है; जैसा कि महर्षि पतंजलि कहते हैं- *'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:।'*[189] योगदर्शन के अनुसार योग का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्ति का रोकना है।

योगदर्शन में केवल बौद्धिक विषयों का विचार है। इनमें वस्तुत: विचार के लिए एकमात्र तत्त्व है 'चित्त' अर्थात् बुद्धि। यहाँ चित्त से अभिप्राय मन, बुद्धि एवं अहंकार तीनों के सम्मिलित रूप से है। चित्त सत्त्व प्रधान प्रकृति का परिणाम है। वह सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता के कारण क्रमश: तीन प्रकार का होता है-प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील तथा स्थितिशील। योगदर्शन के अनुसार चित्त मूलत: शान्त होता है, एक अगाध नदी के समान। किन्तु जिस वस्तु से भी उसका संपर्क होता है, यह उसके आकार को प्राप्त कर लेता है। चित्त के विषयाकार परिणाम को चित्तवृत्ति कहते हैं। यहाँ चित्तवृत्तियों के दो प्रकार बताये गये हैं- 1.क्लिष्ट अथवा क्लेशदायिनी 2.अक्लिष्ट अथवा क्लेश (दु:ख न देने वाली)। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच चित्तवृत्तियाँ हैं।[190] इन्हीं पाँच वृत्तियों के निरोध से मोक्ष की प्राप्ति संभव है। चित्त का अधिक विश्लेषण करते हुए योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमियाँ बताई गई हैं-क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय आदि क्लेशों से मुक्त होने के लिए-चित्त को समाहित करने के लिए अष्टांग योग के आठ अंगों का अभ्यास करना आवश्यक है। महर्षि पतंजलि ने कहा है-योग के अंगों का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का नाश होता है, जिससे ज्ञान का प्रकाश चमकता है, जिससे कि विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है।[191] यहाँ यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि अष्टांगयोग का उल्लेख करने से पूर्व चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए 'अभ्यास और वैराग्य' दो शर्त अनिवार्य है। महर्षि पतंजलि के अनुसार-'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-ये आठ योग के अंग है।'[192] इनमें से प्रथम

---

189 योगसूत्र, 1.2

190 प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय:। -योगसूत्र 1.6

191 योगाङ्गऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:। -योगसूत्र 2.28

192 योगसूत्र, 2.29

पाँच बहिरंग और तीन अंतरंग योग कहलाते है। योग के बहिरंग पाँच अंग बाह्य समाधि से सम्बन्धित है। डॉ.राधाकृष्णन का मानना है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के सहायक साधन हैं। ये योग के अंतर्निहित अंश नहीं हैं। ये केवल आत्मशुद्धि की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं।[193]

सभी दर्शनों के समान योगदर्शन में भी अपने ढंग से ईश्वर का महत्त्व सिद्ध किया है। यहाँ ईश्वर का प्रकृति और पुरुष से भिन्न एक स्वतन्त्र नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकारा है; जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी है। वह त्रिगुणातीत है। वह गुरुओं का भी गुरु है। वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा है। रहस्यपूर्ण अक्षर 'ओम्' ईश्वर का द्योतक है और इस पर ध्यान लगाने से मन ईश्वर की यथार्थ झाँकी में विश्राम करता है।[194] योगदर्शन की विशेषता ईश्वर को भी एक पुरुष मानना है। किन्तु यह कोई साधारण पुरुष नहीं है। महर्षि पतंजलि ईशवर के सम्बन्ध में कहते हैं-ईश्वर क्लेश, कर्म,विपाक एवं आशय से असम्बन्ध अन्य पुरुषों से विशेष (उत्कृष्ट) पुरुष हैं।[195] ईश्वर मुक्त पुरुष तथा प्रकृति-लय पुरुष से भिन्न है। ईश्वर मनुष्य के कर्म फलों का अध्यक्ष भी नहीं है। उसे हमारे कर्मों से कोई मतलब नहीं रहता। किन्तु वह हमारे पुण्य-वृद्धि तथा पाप-क्षय में सहायक अवश्य होता है। योगदर्शन के अनुसार ईश्वर ही है, जो मनुष्य के समाधि-लाभ को सुगम बनाता है। पतंजलि ने (1-29) में बताया है कि समाधि लाभ करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। यह ईश्वर प्रणिधान और ईश्वर के ध्यान से शीघ्र मिलता है। इस तरह ईश्वर की उपयोगिता योग साधना में नितांत मौलिक है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये कुछ प्रमाण भी योग के आचार्य ने बताये हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त प्रमाण ये ज्ञान के तीन साधन स्वीकार किए गये हैं।[196]

योगशास्त्र में कर्म का स्थान बहुत ऊँचा है। परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कर्म एक प्रधान साधन है। यहाँ कर्म सिद्धांतों पर भी विधिवत् विचार प्रस्तुत किया गया है। जो कर्म बुद्धिपूर्वक और बुद्धिस्थ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों सहित किये जाते हैं, उन कर्मों करने से जीवों की बुद्धि में संस्कार पड़ जाते हैं। ये संस्कार कर्मसंस्कार या कर्माशय कहे जाते हैं। ये कर्मसंस्कार क्लेशों के हल्के होने पर हल्के और जोरदार होने पर जोरदार बनते हैं। ये संस्कार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। इनका

193 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-2, पृ.306

194 वही, पृ.318

195 क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:। -योगसूत्र 1.24

196 वही, 1.7

पूरा विवेचन इसी ग्रन्थ की तत्सम्बद्ध योगसिद्धि में देखने योग्य है। कर्मों के फल वर्तमान जीवन और भविष्यज्जीवनों में भोगे जाने योग्य होते हैं।[197]

पतंजलि योग का मुख्य लक्ष्य है 'आत्मा' की स्वरूप में प्रतिष्ठा। पतंजलि योग को चित्तवृत्तियों का निरोध बतलाने के अनन्तर तीसरे सूत्र में कहते हैं-'तब दृष्टा की स्वरूप (आत्मा) में अवस्थिति होती है। योगदर्शन के अनुसार आत्मा मूलतः बुद्ध, मुक्त स्वरूप वाली है। वह न तो ज्ञाता है, न कर्ता, न भोक्ता। आत्मा के इसी स्वरूप की प्राप्ति योग का लक्ष्य है। आत्मा अपने स्वरूप को खोकर चित्तवृत्तियों से प्रभावित होती है, उसका कारण पतंजलि बताते हैं कि *तस्य हेतुरविद्या* '[198] अतः अविद्या को दूर करना आवश्यक है। अविद्या (अज्ञान) के अभाव से आत्मा और चित्त के संयोग का भी अभाव होता है और उससे फिर कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।[199] अतः मोक्ष का नाम योगदर्शन में 'कैवल्य' अर्थात् परम स्वातन्त्र्य है। यह अवस्था केवल निषेधात्मक नहीं है, बल्कि पुरुष का वह नित्यजीवन है जो प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होकर प्राप्त होता है। मोक्ष में सभी क्लेशों से मुक्ति मिलती है।

निष्कर्षतः कहा जाये तो योग का विषय इतना गहन तथा महत्त्वपूर्ण है कि उसका यथार्थ परिचय थोड़े में नहीं दिया जा सकता, फिर भी अत्यन्त संक्षेप में पातंजल योग का विवेचन मैंने किया है। योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन सम्पत्ति है। योग की उपयोगिता सभी दार्शनिकों ने भी स्वीकारी है। योग से मनुष्य की काया और चित्त की निर्मलता संभव है और आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों ने भी योग की ओर आकर्षित होकर इसका प्रचार-प्रसार किया है।

1.3.1.3 न्याय दर्शन :

भारतीय आस्तिक षड्दर्शनों में न्यायदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम माने जाते हैं। लम्बे समय तक जीवन्त रहने वाले इस दर्शन की करीब 20 शताब्दियों तक अनेकानेक भारतीय पंडितों ने सेवा की है। इसी कारण से भारतीय दर्शनों के इतिहास में न्यायदर्शन का स्थान वेदान्तदर्शन को छोड़कर सर्वश्रेष्ठ है। न्यायदर्शन को अक्षपाद-दर्शन, तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वादविद्या या तर्क विद्या भी कहा जाता है। इस दर्शन में तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र पर विशेष जोर दिया गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि न्यायदर्शन में तात्त्विक चिंतन नहीं हुआ है। अन्य दर्शनों के समान इसमें भी ईश्वर, जीव, जगत् तथा मोक्ष-विषयक चिन्तन है।

---

197 क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। -योगसूत्र 2.12

198 वही, 2.24

199 वही, 2.25

वैसे तो तर्कविद्या अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में विद्यमान रही है। उपनिषदों, रामायण, महाभारत आदि में भी इसका उल्लेख मिलता है। किन्तु न्याय दर्शन को व्यवस्थित रूप में, एक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि गौतम को है, जिनका 'न्यायसूत्र' इस दर्शन का मूल ग्रन्थ माना जाता है, जिस पर बाद में अनेकानेक भाष्य लिखे गये। ऐसे भाष्यकारों में वात्स्यायन, वाचस्पति मिश्र और उदयानाचार्य के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । न्यायदर्शन के समस्त साहित्य को विद्वानों ने दो भागों में विभक्त किया है, यथा-प्राचीन न्याय और नव्य न्याय । बारहवीं शताब्दी के पूर्व का दर्शन प्राचीन न्याय में रखा गया है। प्राचीन न्याय का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक प्रमाणिक ग्रन्थ गौतम का 'न्यायसूत्र' माना जाता है। बारहवीं शताब्दी और उसके बाद का दर्शन नव्यशास्त्र में रखा गया है। गंगेश उपाध्याय के 'तत्त्वचिंतामणि' नामक ग्रन्थ से नव्यशास्त्र का प्रारंभ होता है। दोनों में मुख्य अंतर यह है कि प्राचीन न्याय में तत्त्वशास्त्र पर अधिक जोर दिया गया है, जबकि नव्यन्याय में तर्कशास्त्र पर अधिक जोर दिया गया है। गौतम का 'न्यायसूत्र' न्यायदर्शन का आधार है। इसकी विषय सामग्री पाँच अध्यायों में विभक्त है। अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह न्याय का चरम उद्देश्य मोक्ष को अपनाना है। मोक्ष की अनुभूति तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप को जानने से ही हो सकती है। सभी दर्शनों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए अलग-अलग साधन और उपाय बताये हैं। गौतम के 'न्यायसूत्र'में इस मोक्ष के लिए सोलह उपाय-पदार्थ बताये गये हैं, यथा-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, अवयव, दृष्टांत, सिद्धांत, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान ।[200]

न्यायदर्शन में प्रमाणों में प्रथम स्थान 'प्रत्यक्ष' को दिया गया है। न्याय-दार्शनिकों ने 'प्रत्यक्ष' पर गंभीरता से विचार किया है। इसके महत्त्व के अनेक कारण है, जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञान सन्देह रहित है। इसे न केवल न्याय वरन् अन्य सभी आस्तिक दर्शन भी स्वीकार करते हैं। *'प्रत्यक्षे किम् प्रमाणम् ?'* यानी इस ज्ञान को अन्य ज्ञान के द्वारा प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती । आँखों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाये वह प्रत्यक्ष है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण वह है जिसकी सिद्धि आँखों के द्वारा हो। व्यापक अर्थ में प्रत्यक्ष का अर्थ केवल आँख से देखकर ही प्राप्त किया हुआ ज्ञान नहीं कहा जाता है; लेकिन अन्य इन्द्रियों से जैसे कान, नाक, त्वचा, जीभ से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए सिर्फ इन्द्रियों का रहना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि विषयों (पदार्थों) का होना भी आवश्यक है। नव्य न्याय के आचार्य अन्नभट्ट ने सात प्रकार के पदार्थ माने हैं-द्रव्य, गुण,

---

200 न्यायसूत्र, 1.1.1

कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।[201] अतः प्रत्यक्ष का अर्थ वह ज्ञान है जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। इन्द्रियों और पदार्थों के अतिरिक्त 'सन्निकर्ष' का होना भी परमावश्यक है। पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध या संयोग को ही 'सन्निकर्ष' कहते हैं। न्याय में प्रत्यक्ष की सविशेष चर्चा है, पर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष के लौकिक और अलौकिक दो प्रमुख भेद है। कुछ विद्वान प्रत्यभिज्ञा को तीसरा भेद स्वीकारते हैं।

न्यायदर्शन का दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधारित प्रमाण है। अनुमान दो शब्द से बना है, अनु+मान। 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' तथा 'मान' का अर्थ 'ज्ञान' होता है। अनुमान का अर्थ है, वह ज्ञान जो एक ज्ञान के बाद आये। यह विचार इस रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-दूर पर्वत से हम धुआँ उठते देखते हैं-प्रत्यक्ष। इस आधार पर हमें यह ज्ञान होता है कि पर्वत में आग है-यही अनुमान है। गौतम के अनुसार पूर्वज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान 'अनुमान' है।[202] केशवमिश्र लिंग परामर्श को ही अनुमान मानते हैं।[203] अनुमान में चिह्न (Symbol), साध्य (Conclusion) एवं पक्ष (Support) अवश्य होते हैं। अनुमान प्रमाण के तीन प्रकार-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्टा है। नव्य-न्याय के अनुसार भी उसके तीन भेद-केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी माने जाते हैं।

'उपमान प्रमाण' न्यायदर्शन द्वारा प्रस्तुत तीसरा प्रमाण है। उपमान दो शब्द से बना है, उप+मान। 'उप' का अर्थ है 'उपमा' तथा 'मान' का अर्थ 'ज्ञान' होता है। 'उपमा' अर्थात् सादृश्यता के आधार पर प्राप्त ज्ञान। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से किसी न जानी हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ही 'उपमान प्रमाण' है। उपमान अथवा तुलना वह साधन है जिससे हम किसी पूर्णतया ज्ञान पदार्थ के सादृश्य से किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं।[204] न्याय दर्शन का चौथा प्रमाण 'शब्द प्रमाण' है। यह भी एक स्वतंत्र प्रमाण है। इसे 'आप्त प्रमाण' भी कहते हैं। न्यायदर्शन के मुताबिक शब्द तभी प्रमाण बनते हैं, जब वे यथार्थ, वास्तविक एवं विशवास के योग्य हों। ऐसे वचन को ही न्यायदर्शन में आप्तवचन कहे गये हैं तथा इन्हें व्यक्त करने वाला 'आप्त' कहा गया है। महर्षि गौतम कहते हैं- *'आप्तोपदेशः शब्दः ।'* अर्थात् आप्त का उपदेश (कथन) ही शब्द प्रमाण है। शब्द प्रमाण के दो भेद हैं-दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ एवं लौकिक तथा वैदिक।

---

201 द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभावाः सप्त पदार्थाः। -तर्कसंग्रह 2.12

202 न्यायसूत्र, 1.15

203 तर्कभाषा

204 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-2, पृ.85

न्यायदर्शन में प्रमाण के बाद प्रमेय पदार्थ का निरूपण किया गया है। प्रमा (ज्ञान) का जो विषय है, उसे ही प्रमेय कहते हैं। गौतम ने न्यायसूत्र में प्रमेय के 12 प्रकार बताये हैं।[205] इनमें 'आत्मा' प्रथम प्रमेय है। शेष ग्यारह प्रमेय हैं-शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख और मोक्ष (अपवर्ग)।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा स्वभावत: निर्गुण एवं निष्क्रिय है। देह और मन के संपर्क में आने पर उसमें चेतना की उत्पत्ति होती है। वे आत्मा को शरीरस्थ जरूर मानते हैं, किन्तु उसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी मानते हैं। गौतम आत्मा के छ: गुण बताते हैं।[206] न्यायदर्शन में ईश्वर का सिद्धांत बड़ा ही महत्त्व रखता है। 'ईश्वर' न्यायदर्शन का एक मौलिक तत्त्व है, जिसके आधार पर उसके आचार तथा धर्म का विशाल दुर्ग खड़ा है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना जीव न तो प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान पा सकता है और न इस जगत् के दु:खों से ही छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[207] परमात्मा को ही ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर जीवात्मा से पूर्णत: भिन्न है। जीवात्मा जहाँ अल्पज्ञ, अनित्य एवं बंधनग्रस्त है; वहाँ परमात्मा सर्वज्ञ, नित्य एवं स्वतंत्र है। परमात्मा जहाँ समस्त दु:खों से परे आनंदमग्न रहता है, वहाँ जीवात्मा निरन्तर दु:खों के सागर में गोते लगाती रहती है।

न्यायदर्शन के अनुसार मानवजीवन का परमश्रेय 'मोक्ष' प्राप्ति कराना है। मोक्ष को अपवर्ग एवं नि:श्रेयस भी कहा गया है। महर्षि गौतम ने कहा है कि प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है। मोक्ष को आत्मा, ईश्वर आदि के समान प्रमेय कहा गया है।[208] नैयायिक कहते हैं कि सांसारिक दु:खों या बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान का नाश तत्त्वज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। शरीर को आत्मा समझना मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या ज्ञान का नाश तभी हो सकता है, जब आत्मा अपने को शरीर, इन्द्रियों या मन से भिन्न समझे। मोक्ष पाने के लिये न्यायदर्शन में श्रवण-मनन और निदिध्यासन पर जोर दिया गया है। न्यायदर्शन में आचारमीमांसा का भी महत्त्व दर्शाया गया है। न्याय का लक्ष्य यही है कि प्राणी दु:खपूर्ण संसार से सदा के लिये मुक्ति पा ले। यह सम्भव हो सकता है ज्ञान के माध्यम से, परन्तु ज्ञान की सहायता करने के लिये मनुष्य को उन उपायों का भी आश्रय लेना जरूरी है। जिनका वर्णन योगसूत्रों में मिलता है। यम, नियम, ध्यान

---

205 न्यायसूत्र, 1.1.7

206 इच्छाद्वेष पयत्न सुख दु:ख ज्ञानन्यात्मनो लिंगमिति। -न्यायसूत्र 1.1.10

207 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.202-203

208 न्यायसूत्र, 1.1.1, 1.1.9

आदि का आश्रय ग्रहण करना कल्याणप्रद होता है, तथा इनसे ज्ञान का उदय तुरन्त हो जाता है। जगत् के व्यवहार का विवेचन भी न्यायदर्शन में व्यवस्थित ढंग से मिलता है।

1.3.1.4 वैशेषिक दर्शन :

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद माने जाते हैं। उनका यह नाम 'कणभक्ष' (कणों को खाने वाला) होने के कारण पड़ा। उन्हें काश्यप् और उलूक नाम से भी पहचाना जाता है। इस नाम के आधार पर उनके दर्शन को औलूक्य दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। वैशेषिक दर्शन का स्थितिकाल लगभग 400 ई.पूर्व बताया जाता है। इस आधार पर वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन से भी प्राचीन माना जाता है। इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की व्याख्या की गई है, अत: इसे वैशेषिक दर्शन कहा गया है। कणाद रचित 'वैशेषिक सूत्र' पर प्रशस्तपाद की 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' नामक टीका स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में सुविख्यात है। यह ग्रन्थ इतना प्रचलित हुआ कि इस पर व्योमशिवाचार्य, उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, श्रीवत्स, वल्लभाचार्य, पद्मनाभ मिश्र, शंकर मिश्र, जगदीश भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने टीकाएँ, उपटीकाएँ तथा वृत्तियाँ लिखीं। कुछ विद्वान न्याय और वैशेषिक में साम्य भी देखते हैं- वैशेषिक के तर्क तथा न्याय के तर्क में थोड़ा-सा ही भेद है।[209] न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों ने मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य कहा है। वैशेषिक का उद्देश्य तत्त्वशास्त्र का प्रतिपादन करना है। इसका मानना है कि धर्म के ज्ञान से जीवात्मा मोक्ष की प्राप्ति करती है।

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थों का विवेचन पाया जाता है, यथा-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। वैशेषिक दर्शन का मुख्य विषय पदार्थों का विवेचन करना है। द्रव्य गुण और कर्म का आधार है। वस्तुत: इसके बिना गुण और कर्म अस्तित्व रख ही नहीं सकते। द्रव्य नौ प्रकार के बताये गये हैं-पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन। गुण द्रव्य पर आश्रित अनपेक्ष है। यह ऐसा पदार्थ है, जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। इस दर्शन में 24 प्रकार के गुण बताये गये हैं। 'वैशेषिक सूत्र' में कर्म का लक्षण देते हुए कहा गया है-जो एक ही द्रव्य के आश्रित हो, जो स्वयं गुणरहित हो और जो संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण हो वह कर्म कहलाता है।[210] जो एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समान रूप से समवेत रहता है, उसको सामान्य कहते हैं। इसे बौद्धदर्शन में 'नामवाद', जैन एवं वेदान्त में 'सामान्य प्रत्यक्षवाद' और वैशेषिक में 'वस्तुवाद ' कहा गया है। विशेष सामान्य से ठीक विपरित होता है। जिस वस्तु के द्वारा एक व्यक्ति, संसार के अन्य

---

209 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-2, पृ.156

210 एकद्रव्यंगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। -वैशेषिकसूत्र 1.1.17

व्यक्तियों से सर्वथा विलग (व्यावृत्त) होता है, उसे विशेष कहते हैं। समवाय एक प्रकार का सम्बन्ध है। समवाय वह सम्बन्ध है जिसके कारण दो पदार्थ एक दूसरे में समवेत रहते हैं। इस दर्शन में समवाय एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। यह अतिन्द्रिय पदार्थ है, अत: इसे अनुमान के द्वारा ही जाना जा सकता है। उपर्युक्त सभी भाव पदार्थ हैं, जबकि अभाव अभावात्मक है। यह सापेक्षता के विचार पर आधारित है। अभाव का अर्थ किसी वस्तु का किसी विशेष काल में, किसी विशेष स्थान में अनुपस्थिति है। अभाव शून्य से भिन्न है। प्रो.हिरियन्ना ने कहा है-अभाव से केवल किसी चीज का किसी स्थान पर अभाव ही समझना चाहिए, न कि शून्य, जिसे न्याय-वैशेषिक अचिन्त्य या छद्म-प्रत्यय कहकर हटा देता है।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा, मन, कारण, कार्य, परमाणुवाद एवं मोक्ष आदि का विश्लेषण भी हुआ है। सरसरी दृष्टि से इनका यहाँ निर्देश मात्र दिया जा रहा है। आत्मा उस सत्ता को कहा गया है, जो चैतन्य का आधार है। चेतना आत्मा का स्वाभाविक नहीं, आगन्तुक गुण है। आत्मा और मन ये दोनों ही शरीर बद्ध होते हुए भी शरीर से पृथक् नित्य द्रव्य है। आत्मा वह द्रव्य है, जो ज्ञान का आधार है। वैशेषिक ने दो प्रकार की आत्माओं को माना है-जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा की चेतना सीमित है, जबकि परमात्मा की चेतना असीमित है।

मन को अनेक कहा गया है। वस्तुत: मन अणुरूप है। मन की सहायता से ही आत्मा आन्तर और बाह्य दोनों जगत का ज्ञान प्राप्त करती है । वैशेषिक दर्शन में समवायि, असमवायि और निमित्त ये तीन कारण बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ और निमित्त भी होते हैं, जिन्हें वह साधारण निमित्त कारण कहता है। इनकी संख्या वह नौ बताता है। इनकी अपेक्षा प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में रहती है। इस दर्शन का परमाणुवाद अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक और जटिल सिद्धांत है। यह दर्शन जगत् का उपादान कारण असंख्य सूक्ष्मतम अणुओं (परमाणुओं) को बतलाता है, इसलिए उसका सिद्धांत परमाणुवाद कहा जाता है।

डॉ.राधाकृष्णन के अनुसार परमाणुवाद मानवीय मस्तिष्क के लिए इतना स्वाभाविक है कि भौतिक जगत् की व्याख्या के लिए आरम्भ में जितने भी प्रयत्न हुए, सबने इसी प्रकल्पना को अपनाया। उपनिषदों में भी इस कल्पना के चिह्न मिलते हैं, जो सब भौतिक पदार्थों को चार तत्त्वों अर्थात् अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी से बना हुआ मानते हैं।[211] वैशेषिक दर्शन में नि:श्रेयस शब्द का प्रयोग मोक्ष के लिए हुआ है। इस दर्शन का लक्ष्य भी मोक्ष प्राप्ति है। वैशेषिक सूत्र में धर्म का लक्षण बताया गया है-

---

211 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-2, पृ.167

यतो अभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म: ।[212]

अर्थात् जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है। अभ्युदय का अर्थ सांसारिक उन्नति है। यह धर्म से यानी शास्त्रों द्वारा बताये गये कर्मों का पालन करने से होती है। नि:श्रेयस का अर्थ आत्मिक कल्याण है-यही मोक्ष है। यह मोक्ष प्राप्ति तत्त्वज्ञान, श्रद्धा, निष्काम कर्म, ईश्वरीय कृपा आदि साधनों से प्राप्त होती है।

1.3.1.5 पूर्वमीमांसा दर्शन :

भारतीय षड्दर्शनों में मीमांसा दर्शन अग्रणी है क्योंकि यह पूर्णत: वेदों पर आधारित है। वस्तुत: इसका काम कोई नया दर्शन प्रस्तुत करना नहीं, वरन् वैदिक धर्म एवं मंत्रों की विस्तृत व्याख्या करना है। धर्म के समुचित ज्ञान के लिए जैमिनि ने अपने दर्शन में विधि की मीमांसा की है, इसीलिए जैमिनी के दर्शन का नाम 'मीमांसा दर्शन' पड़ा। इस दर्शन को कर्ममीमांसा तथा पूर्वमीमांसा के नाम से भी पहचाना जाता है। मीमांसा दर्शन के आदि आचार्य महर्षि जैमिनी माने जाते हैं। उनके ग्रन्थ का नाम 'मीमांसा सूत्र' है। यह ग्रन्थ 12 अध्यायों में विभक्त हैं, अत: उसको 'द्वादशलक्षणी' भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण पादों की संख्या 60 तथा सम्पूर्ण अधिकरणों की संख्या 807 है। उसमें कुल 2745 सूत्र हैं। आचार्य जैमिनि के पश्चात् अनेक महान आचार्य हुए। दूसरी शताब्दी के शबर स्वामी जैमिनि सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार थे। इनका शाबरभाष्य पांडित्य एवं रोचक शैली के कारण पातंजल महाभाष्य तथा शांकरभाष्य के समकक्ष रखा जाता है। जैमिनी के सूत्रों के बाद शाबरभाष्य का ही दूसरा स्थान है। उसके द्वारा मीमांसा दर्शन को स्वतन्त्र दर्शन का स्थान प्राप्त हुआ और बाद में जितनी भी कृतियाँ मीमांसा पर लिखी गयीं उन सबका आधार वही ग्रन्थ रहा है। मीमांसा दर्शन की परम्परा में शाबरभाष्य के तीन प्रख्यात टीकाकारों में कुमारिल भट्ट का भाट्टमत तथा दूसरा गुरुमत का अधिष्ठाता आचार्य प्रभाकर हैं। प्रभाकर के पश्चात् भी लम्बे समय तक (17वीं शताब्दी) यह दर्शन फलताफूलता रहा है। 11वीं शताब्दी के मुरारी मिश्र ने मीमांसा सूत्र पर एक बृहद् टीका लिखी। उन्होंने एक नये मुरारी मत सम्प्रदाय की स्थापना भी की थी।

डॉ.राधाकृष्णन हिन्दुओं के जीवन पर मीमांसा दर्शन का गहरा प्रभाव देखते हैं।[213] मीमांसा दर्शन की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रमा, प्रमाण और प्रामाण्य आदि की आवश्यकता बतायी गयी है। मीमांसकों में प्रमाण के प्रकार को लेकर मतभेद हैं। जैमिनि ने

---

212 वैशेषिक सूत्र, 1.1.2

213 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-2, पृ.359

प्रमाण के तीन भेद-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द माने हैं। प्रभाकर ने इन तीनों के अतिरिक्त उपमान और अर्थापत्ति को भी स्वीकारा है। कुमारिल भट्ट अनुपलब्धि को जोड़ते हैं। इस तरह मीमांसा दर्शन में कुल छ: प्रमाण माने गये हैं। मीमांसा का मुख्य विषय धर्म है। इस धर्म को जानने के लिए एकमात्र प्रमाण है-वेद। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता अत: मीमांसकों ने प्रामाण्य प्रकरण में शब्द प्रमाण को विशेष महत्त्व दिया है। मीमांसा के मत से प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जिन स्वर्गादि अलौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता उन विषयों में अपौरुषेय वेद ही प्रमाण माना जाता है।[214] मीमांसक स्वत: प्रामाण्यवादी हैं। वे कहते हैं कि केवल स्मृति के लिए हमें प्रमाण की आवश्यकता हो सकती है क्योंकि यह सम्भव है कि किस पूर्व प्रसंग को याद रखने में हमसे कोई भूल हो जाये। स्मृति के अतिरिक्त किसी भी ज्ञान के विषय को प्रमाणित करने के लिए हमें अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान अपनी सत्यता का स्वयं ही सत्यापन करता है। मीमांसक केवल प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही स्वत: प्रामाण्य नहीं मानते, वरन् अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात सत्यों को भी स्वत: प्रामाण्य कहते हैं। वेद उनकी दृष्टि से स्वत: प्रमाण है। जिसको 'शब्द प्रमाण' या 'आगम' कहा गया है। मीमांसकों की दृष्टि से वही वेद एकमात्र प्रमाण है।

भारतीय दार्शनिकों ने भ्रम को भी एक प्रकार का ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) मानते हुए इसके कारण व निवारण की खोज में इसकी गहन व्याख्या की है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के रूप में जानना भ्रान्ति (ज्ञान) है। शुक्ति में रजत का या रज्जु में सर्प को जानना भ्रान्ति ज्ञान कहा जाता है। भारतीय दर्शन में यह सिद्धांत ख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। मीमांसा-दर्शन में जगत् और उसके समस्त विषयों को सत्य माना गया है। प्रत्यक्ष जगत् के अतिरिक्त मीमांसा- आत्मा, स्वर्ग, नरक, वैदिक यज्ञ के देवताओं का अस्तित्व भी स्वीकार करती है। मीमांसा परमाणु को ईश्वर द्वारा संचालित नहीं मानती। मीमांसक शरीर, मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि से परे आत्मतत्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार आत्मा एक द्रव्य है जो चैतन्य गुण का आधार है। चेतना आत्मा का स्वभाव नहीं, अपितु गुण है। आत्मा का सम्पर्क जब मन, इन्द्रियों से होता है तब आत्मा में चैतन्य उदय होता है। आत्मा मूलत: अचेतन है। मीमांसकों के अनुसार आत्मा अनेक हैं, अमर हैं। आत्मा की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। आत्मा बुद्धि और इन्द्रियों से पृथक् है। आत्मा स्वयं प्रकाशमान है। आत्मा कर्ता, भोक्ता व ज्ञाता है । मीमांसकों का ईश्वर सम्बन्धी मंतव्य स्पष्ट नहीं है। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व का न तो विरोध किया है और न तो समर्थन किया है। प्राचीन मीमांसकों की तुलना

214 डॉ.वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृ.314

में बाद के मीमांसकों में ईश्वर की स्वीकृति स्पष्ट दिखाई देती है। अतः कहा जा सकता है कि कुछ मीमांसक निरीश्वरवादी थे, तो कुछ ईश्वरवादी थे।

मीमांसा दर्शन के अनुसार मनुष्य के बन्धन का कारण है-वासना और मोह। इनकी इच्छा से किये गये कर्म अनुचित कर्म हैं। इनसे मुक्त होना ही बन्धन का उपाय है। इस हेतु मनुष्य को उचित कर्म करना आवश्यक है। यहाँ उल्लेखनीय है कि मीमांसा दर्शन के संस्थापक एवं प्रारंभिक आचार्य जैमिनी एवं शबर ने मोक्ष पर विचार नहीं किया था। वस्तुतः उनके चिन्तन का उद्देश्य मनुष्य की स्वर्ग की प्राप्ति कराना था। इस दर्शन में भी स्वर्गप्राप्ति के बजाय मोक्ष प्राप्ति ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गई, अतः परवर्ती मीमांसा दर्शन में मोक्ष ही निःश्रेयस (सबसे बड़ा कल्याण) माना गया है। मीमांसा दर्शन का मुख्य विषय है-धर्म का प्रतिपादन। जैमिनि के मीमांसासूत्र का प्रथम सूत्र है- *'अथातो धर्म जिज्ञासा'* इससे ही स्पष्ट होता है कि यह दर्शन धर्म का निर्णय करने जा रहा है। मीमांसकों ने क्रिया के प्रवर्तक वचन अर्थात् वेद के विधिवाक्य को ही धर्म कहा है और धर्म की सत्यता के निर्धारण हेतु एकमात्र शब्द को ही प्रमाण माना है। जैमिनी और शबर ने धर्म का लक्ष्य स्वर्ग की प्राप्ति माना है। कुमारिल, प्रभाकर और अन्य मीमांसकों ने मोक्ष चिन्तन को जीवन का पुरुषार्थ माना। यहाँ धर्म की प्राप्ति का प्रमुख साधन कर्म बताया है। कर्म अर्थात् वेदों में बताये गये कर्म। अतः वेदविहित कर्म ही धर्म है, करणीय है-मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।

इस तरह मीमांसा दर्शन में कर्म के प्रकार एवं विधियों का उल्लेख हुआ है। यज्ञ से सम्बन्धित विविध विधियों की मीमांसा में व्याख्या हुई है। अतः उसे कर्मशास्त्र भी कहा जाता है। इस दर्शन के द्वारा हमें धर्म-ज्ञान तथा कर्तव्य-ज्ञान मिलता है। हिन्दुओं के सभी धर्म-कर्म का विवेचन मीमांसा में निहित् है।

1.3.1.6 उत्तरमीमांसा दर्शन (वेदांत दर्शन) :

भारतीय दर्शनों में सबसे महत्त्वपूर्ण वेदांत दर्शन है। यह दर्शन न केवल भारतीय दर्शन को, परन्तु हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि विचारों को प्रकट करने वाला दर्शन है। वेदान्त दर्शन का आधार उपनिषदें हैं। पहले वेदांत शब्द का प्रयोग उपनिषद् के लिये होता था, क्योंकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग थे। बाद में उपनिषदों से जितने दर्शन विकसित हुए-सभी को वेदांत की संज्ञा दी गई। इस दर्शन को इसी संदर्भ में वेदांत-दर्शन कहा जाता है। वेदांत दर्शन वेद के उत्तरभाग-ज्ञानकाण्ड पर आधारित होने के कारण उसे उत्तर-मीमांसा भी कहा गया है।

वेदांत दर्शन का आधार बादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' (वेदांत सूत्र) माना जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। वेदांत दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य बादरायण को वेदांत

दर्शन का पितामह कहा जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' को सूत्रकार बादरायण ने चार अध्यायों में विभाजित किया है। पहले अध्याय में ब्रह्म विषयक विचार है। दूसरे में पहले अध्याय की बातों का तर्क द्वारा पुष्टिकरण हुआ है तथा विरोधी दर्शनों का खण्डन भी हुआ है। तीसरे में साधना नामक सबिन्धित सूत्र हैं। चौथे अध्याय में मुक्ति के फलों के संदर्भ में चर्चा हुई है। इसकी रचना छोटे-छोटे सूत्रों में हुई है तथा 'ब्रह्म' इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए यह 'ब्रह्मसूत्र' कहा गया। 'ब्रह्मसूत्र' पर अनेक आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। सच तो यह है कि इस ग्रन्थ पर जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं, उतनी किसी अन्य मूल ग्रन्थ पर नहीं लिखी गयी। इस ग्रन्थ के शंकर, रामानुज, भास्कराचार्य, निम्बकाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है ? यह वेदांत दर्शन का प्रमुख प्रश्न है। इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। शंकर के मतानुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं है। वे वस्तुत: एक ही हैं-अद्वैत हैं। इसी कारण से शंकर के दर्शन को अद्वैतवाद कहा जाता है। रामानुज के अनुसार एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति विशेषण रूप में है। उन्होंने विभिन्न प्रकार में अद्वैत का समर्थन किया है, इसी कारण इनके मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। मध्वाचार्य जीव तथा ब्रह्म को दो मानते हैं, इसलिए इनके मत को द्वैतवाद कहा जाता है। निम्बार्क के अनुसार जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं, तो किसी दृष्टि से दो नहीं है। अत:इनके मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है।

वेदांत के जितने भी संप्रदाय हैं, उनमें सबसे प्रधान शंकर का अद्वैत-दर्शन कहा जाता है। शंकराचार्य न केवल भारतीय दार्शनिकों में, वरन् विश्व के महान दार्शनिकों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वेदांत के नाम से आज शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद ही अधिक लोक प्रचलित है। शंकर के 'शारीरक भाष्य' को ही 'ब्रह्मसूत्र' का प्रमाणिक भाष्य माना जाता है। शंकराचार्य ने प्रमुख उपनिषदों, भगवद्‌गीता एवं माण्डूक्यकारिका पर भाष्य लिखे हैं। इसके अतिरिक्त उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं-तत्त्वबोध, आत्मबोध, दशश्लोकी, उपदेशसाहस्री, वाक्यवृत्ति, अपरोक्षानुभूति, आनन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र आदि। शंकराचार्य एकमात्र ब्रह्म को परमतत्त्व कहते हैं, अत: वे अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं। अद्वैत का अर्थ होता है-जहाँ सत्ता दो या दो से अधिक न हो। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म पूर्ण है और जो पूर्ण है उसे संख्या की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता।

शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार यह सारा विश्व-प्रपंच एक ही अद्वितीय तत्त्व में अन्तर्भूत, स्थित और प्रकाशित है। इस अद्वितीय तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त इस संसार में

किसी की सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है।[215] शंकराचार्य दो दृष्टियों से ब्रह्म का विचार करते हैं-व्यावहारिक दृष्टि से और पारमार्थिक दृष्टि से। उनके अनुसार निर्गुण अर्थात् निराकार एवं निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। शंकर ने 'ईश्वर' को ब्रह्म का ही एक रूप माना है। ईश्वर सगुण ब्रह्म अर्थात् गुणों से युक्त ब्रह्म हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, अन्तर्यामी और स्वतंत्र है। शंकर के दर्शन में ईश्वर को 'मायोपहित ब्रह्म' कहा जाता है। तात्पर्यार्थ यह है कि शंकर के दर्शन में सगुण ब्रह्म की सत्ता केवल व्यावहारिक दृष्टि से है। पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है। शंकर के अनुसार सगुण और निर्गुण ब्रह्म के दो अलग-अलग अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म तो वस्तुत: एक ही है, निर्गुण ब्रह्म। अपने भाष्य में वे स्पष्ट करते हैं कि *''द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते.......एकमपि ब्रह्म।''*[216] अर्थात् ब्रह्म दो रूपों में जाना जाता है........यद्यपि एक ही है।

वेदांत दर्शन में आत्मतत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्ता है। शंकराचार्य भी अपने दर्शन में आत्मज्ञान को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। वे आत्मा को ब्रह्म कहते हैं। आत्मा ही एकमात्र सत्य है। जिसका हम सब 'अहम्' (मैं) के रूप में अनुभव करते हैं, और कुछ नहीं, पर ब्रह्म परमात्मा ही है। आत्मा और ब्रह्म में 'अभेद-सम्बन्ध' है। आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है, पर जीव की व्यावहारिक सत्ता है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है, तब वह जीव हो जाता है। शंकर ने आत्मा को मुक्त माना है, परन्तु जीव इसके विपरित बन्धन-ग्रस्त है। शंकर के दर्शन में जगत् एक विस्तृत सत्ता है, वे जगत् को परिभाषित करते हैं- *''जगतोनामरूप क्रिया कारका फलजातस्य।''* अर्थात् समस्त नामरूप, क्रिया-कारक और उनके फल-जगत् के अंतर्गत आते हैं। जगत् केवल व्यावहारिक सत्ता है। शंकर ने सत्ता तीन प्रकार की बतायी है-(1) पारमार्थिक सत्ता-जो एकमात्र नित्य ब्रह्म की है। (2) व्यावहारिक सत्ता-जो जगत् की है। (3) प्रातिभाषिक सत्ता-जो स्वप्न, भ्रम आदि की है।

माया शंकर के दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। माया ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति है; जिसके द्वारा ईश्वर जगत् का निर्माण करता है। उनके अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है। माया अपनी दो शक्तियों के द्वारा (आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति) जगत् का यह सारा पसारा प्रस्तुत करती है। माया ईश्वर की ही रहस्यमयी और अनादि शक्ति है। वेदांत दर्शन में चिंतन का लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति ही है। उसमें बताया गया है कि हमारे बन्धन का कारण

---

215 एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म। -तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य 2.6

216 ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.11

हमारा अज्ञान है। ब्रह्म अद्वितीय है। यह दृश्यमान संपूर्ण प्रपंच माया का विलास है, अतः मिथ्या है। इस माया-विलास में लिप्त रहना ही जीव का बन्धन कहा गया है। जब अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब माया का आवरण छिन्न होकर जीव का जीवभाव दूर हो जाता है। इसी को बन्धनाश कहा गया है। जीवभाव दूर होने के बाद ही वह ब्रह्मभाव में लीन हो जाता है। उसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। शंकराचार्य ने भी जीव के बन्धन और भ्रम को दूर करने के लिए पहला उपाय बताया है- *''ऋते ज्ञानान्त मुक्तिः।''* ज्ञान। अतः अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही होती है। शांकर दर्शन की इस मुक्ति का स्वरूप एक ही महावाक्य में समाहित है- *'अहं ब्रह्मास्मि '* व *'जीवोब्रह्मेव नापरः ।'* इस तरह शंकर ज्ञानमार्ग के समर्थक हैं। वे ज्ञान को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बताते हैं, किन्तु आत्मा का ब्रह्मरूप में साक्षात्कार करने के पूर्व ज्ञानी को 'साधन चतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक बताते हैं। वेदांत मत में मुक्ति की दशा नितांत आनंदमयी दशा है। जीव और ब्रह्म की भेद-भावना से उत्पन्न होने वाले दुःखों की केवल निवृत्ति ही नहीं हो जाती, प्रत्युत साधक को अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है। अज्ञान आवरण के हट जाने से पूर्ण ज्ञान के आलोक से वह उद्‌भाषित हो उठता है और ब्रह्म की अनुभूति से वह कृतकृत्य हो जाता है।[217]

वेदांत के अन्य आचार्य जैसे रामानुज, भास्कर, मध्वाचार्य, निम्बार्क, वल्लभ आदि ने शंकर के निर्गुण ब्रह्म, जगत् के मिथ्यात्व, ज्ञानमार्ग आदि की आलोचना की है, किन्तु वेदांत दर्शन में और समूचे भारतीय दर्शन में शंकर का स्थान सर्वोपरि रहा है। शंकर के दर्शन को हम महान कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन कह सकते हैं। उनका यह दर्शन अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से सराबोर है, जो पाठकों को सूक्ष्मता की ओर ले जाने में समर्थ है।

1.3.2 नास्तिक दर्शन :

पहले हम देख चूके हैं कि वेद निरपेक्ष विचारधारा वाले दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है। यहाँ हम नास्तिक दर्शन के अंतर्गत समाविष्ट चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन की संक्षेप में बात करेंगे-

1.3.2.1 चार्वाक दर्शन (लोकायत दर्शन) :

चार्वाक दर्शन एक अत्यंत प्राचीन तथा एकमात्र जड़वादी दर्शन के रूप में विख्यात दर्शन है। जड़वाद का अर्थ है, विश्व के मूलतत्त्व को जड़ अर्थात् भौतिक मानने वाला सिद्धांत। यह दर्शन आत्म-तत्त्व को भी मूलतः जड़ ही मानता है। इस तरह यह अध्यात्मवाद का विरोधी दर्शन है। यह दर्शन विश्व के निर्माता के रूप में ईश्वर को नहीं मानता, न ही

217 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.382

आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षक के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को आवश्यक समझता है; अतः यह विशुद्ध रूप में नास्तिक दर्शन है।

चार्वाक शब्द अनेक अर्थों को प्रकट करता है। चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है-चबाना। यह जड़वादी दर्शन, 'खाओ, पीओ और मौज करो' सिद्धांत का प्रतिपादक था, अतः चार्वाक कहलाया। चार्वाक का दूसरा अर्थ चारु+वाक् (सुंदरवाणी) किया जाता है। इस दर्शन का तीसरा नाम 'बार्हस्पत्य दर्शन' है। चार्वाक दर्शन लोकायत दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। आम आदमियों में अपने भौतिकवादी विचारों के कारण लोकप्रिय था, अतः इसे लोकायत दर्शन भी कहा गया। ''कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि यह दर्शन इसी लोक को सत्य मानता है, इसलिए यह लोकायत कहा गया।''[218] चार्वाक शब्द को लेकर जो भी विवाद रहा हो, परन्तु यह नामकरण अवश्यमेव असामान्य प्रतीत होता है। आचार्य बृहस्पति के बाद भौतिकवाद को लेकर जो गंभीर चिंतन हुआ उसका संपूर्ण श्रेय चार्वाक को ही उपलब्ध है। चार्वाक दर्शन के भौतिकवादी विचारों का उल्लेख रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में भी दिखाई देता है। सामान्यतया हमें इस दर्शन की उपस्थिति की जानकारी अन्य दर्शन ग्रन्थों से ही होती है। माधव कृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कुछ विस्तार से इस दर्शन के सूत्र देखे जा सकते हैं।

चार्वाक दर्शन में केवल एक ही प्रमाण को यथार्थ ज्ञान देने में योग्य बताया है, वह प्रमाण है प्रत्यक्ष। चार्वाक में प्रत्यक्ष के दो प्रकार स्वीकारे हैं, यथा-(1) बाह्य प्रत्यक्ष (इन्द्रियों के द्वारा) (2) मानस प्रत्यक्ष (मनस् द्वारा)। चार्वाक दर्शन में अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण को अप्रामाणिक माना गया है। चार्वाक ने ईश्वर, आत्मा और जगत् एन तीनों पर विचार तो किया है; पर यह दर्शन केवल जगत् का अस्तित्व ही स्वीकार करता है। जगत् के मूल में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार द्रव्यों को स्थित बतलाता है। चार्वाक कहता है कि परस्पर मिलकर संगठित होना इन द्रव्यों का स्वभाव है। इस तरह इनके स्वाभाविक धर्म एवं क्रिया से जगत् अपने आप निर्मित होता है। चार्वाक का यह सिद्धांत 'स्वभाववाद' के नाम से भी जाना जाता है। चार्वाक जगत् के मूल में उपस्थित चार भूतों को जड़ कहता है, अतः उसका सिद्धांत जड़वाद के नाम से प्रसिद्ध है।

चार्वाक ने आत्मा के नित्य चेतन अस्तित्व की कड़ी आलोचना की है। इसके मतानुसार पृथ्वी आदि चारों भूत संमिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। चैतन्य आत्मा का धर्म है। जड़ से चेतन

218 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-1, पृ.225

की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस बात को समझाने के लिये एक बहुत तर्कपूर्ण उदाहरण चार्वाक ने बताया है-''*जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते। ताम्बूलपुंग चूर्णानां योगात्राग इवात्थितम्॥*''[219] इसी तरह एक अन्य उदाहरण है-''*किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते।*''[220] आत्मा नश्वर है; शरीर के साथ इसका भी नाश हो जाता है। '*भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनः कुतः।*' इस तरह चार्वाक दर्शन ने आत्मा के चेतन स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उसके पुनर्जन्म का विरोध किया है। आचार्य चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं। स्त्री, पुत्र, धन-संपत्ति आदि से जो सुख होता है वही स्वर्ग है। लोक में प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है। देह का नाश हो जाना ही मोक्ष है। चार्वाक दर्शन विशुद्ध नास्तिक दर्शन है। उन्होंने न तो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा है, लेकिन ईश्वर को मानने वालों की तथा स्वयं ईश्वर की भी जी भरकर निन्दा की है।

चार्वाक की आचारमीमांसा वस्तुतः तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा से प्रभावित है। इन्हीं मीमांसाओं के आधार पर वे मानवजीवन के कर्तव्य की भी विशद समीक्षा करते हैं। दार्शनिकों ने मानवमात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की उपादेयता बतलायी है; पर चार्वाक दर्शन 'अर्थ' और 'काम' को ही मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण मानता है। काम ही प्रधान पुरुषार्थ है और तत् सहायक होने से अर्थ भी। लौकिक सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। चार्वाकों का यह कथन प्रसिद्ध है कि जब तब जीयें, सुखपूर्वक जीयें। अपने पास द्रव्य न होने पर ऋण लेकर घृत पीयें- '*यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।*' अतः 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ'- यही आत्यन्तिक लक्ष्य है। कहने का तात्पर्य यही है कि जीवन भोगविलास के साथ सुख की प्राप्ति में बिताना चाहिए। सांसारिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणीमात्र का प्रधान लक्ष्य है।

1.3.2.2 बौद्ध दर्शन :

बौद्ध दर्शन का समावेश भारतीय दर्शन के अवैदिक दर्शन अथवा 'नास्तिक दर्शन' में होता है। यह दर्शन भारत का एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का चरित नितान्त प्रख्यात है। इनका वास्तविक नाम सिद्धार्थ था। उन्हें अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से चार आर्य सत्यों की अनुभूति हुई। तब से वे 'बुद्ध'[221] कहलाये। 'गौतम' उनका कुल नाम

---

219 सर्वसिद्धांत सारसंग्रह 1.1.11

220 श्रीमन्मध्वाचार्य विरचितः सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ.3

221 ''बुद्ध का अर्थ है, जानने वाला, जिसे ज्ञान का प्रकाश मिल गया है।''
डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-1, पृ.280

था। इस तरह से वे 'गौतम बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए। भगवान बुद्ध ने स्वयं 45 वर्ष की लम्बी अवधि तक लगातार अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया था।

बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार सम्प्रदाय है। इनको क्रमशः बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी, बाह्यार्थानुमेयवादी, विज्ञानवादी तथा शून्यवादी कहा जा सकता है। इनमें प्रथम दो हीनयान तथा अन्तिम दो महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। इनमें मुख्य विवाद अस्तित्व के प्रश्न को लेकर है।

बौद्ध दर्शन के संस्थापक गौतम बुद्ध ने स्वयं कुछ नहीं लिखा था, किन्तु गौतम बुद्ध के बाद भारत में अनेक विद्वानों ने कई शताब्दियों तक बौद्ध धर्म एवं दर्शन का समर्थन किया था। इसलिए बौद्ध साहित्य का विशाल भण्डार है। गौतम बुद्ध के कुछ शिष्यों ने उनके उपदेशों को संकलित किया था, जो 'त्रिपिटक' (तीन पिटारी) के नाम से प्रसिद्ध है। जिनके नाम है-

(1) विनय पिटक-जिसमें आचरण सम्बन्धी उपदेश है।
(2) सुत्त पिटक-जिसमें धर्म सम्बन्धी व्याख्या है।
(3) अभिधम्म पिटक-जिसमें अध्यात्म तथा नीति सम्बन्धी बातें संकलित है।

ये तीनों पिटक बौद्ध दर्शन का प्रारंभिक साहित्य माना जाता है। बौद्ध दर्शन में यही तीन पिटक सर्वस्व हैं।

बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाण मानता है। इन दोनों के ग्राह्य विषय अलग-अलग हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय परमार्थसत् वस्तु (स्वलक्षण) है। अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्य लक्षण है। गौतम बुद्ध के 'चार आर्य सत्य'-दुःखम्, दुःख समुदाय, दुःख निरोध एवं दुःखनिरोधगामिनी-प्रतिपत् विशेष प्रचलित हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धांत माना गया है, क्योंकि बुद्ध इस सिद्धांत के आधार पर ही दुःखों के कारण तथा उसके नाश की सम्भावना की खोज करते हैं। इस सिद्धांत का दूसरा महत्त्व यह भी है कि इस दर्शन के अन्य सिद्धांत जैसे कि कर्म का सिद्धांत, क्षणिकवाद, अनात्मवाद, अर्थक्रियाकारित्व आदि इसी सिद्धांत पर आधारित है। अनित्यवाद बुद्ध के प्रमुख सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद (ऐसा होने पर ऐसा होता है) का ही अवश्य परिणाम है। बुद्ध और परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने वस्तु की सत्ता पर विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य है। इस दृष्टि से बाहरी स्थूल जगत् और आन्तरिक सूक्ष्म जगत् दोनों ही क्षणिक है। इस तरह बौद्ध दर्शन ने अनित्यतावाद पर विशेष जोर दिया है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि बुद्ध ने वस्तुओं को केवल अनित्य कहा था, क्षणिक नहीं। इस 'अनित्यवाद' नाम से प्रसिद्ध सिद्धांत के आधार पर बाद के बौद्ध दार्शनिकों ने

'क्षणिकवाद' या 'क्षणभंगवाद' का प्रचलन किया। बुद्ध के कथनानुसार संसार की समस्त वस्तुएँ क्षणिक हैं। कोई भी वस्तु किन्हीं दो क्षणों में एक जैसी नहीं रहती। आत्मा भी अन्य वस्तुओं की तरह परिवर्तनशील है। यदि आत्मा का अर्थ स्थायी तत्त्व में विश्वास करना है तो बुद्ध का मत अनात्मवाद कहा जा सकता है, क्योंकि उनके मतानुसार स्थायी आत्मा में विश्वास करना भ्रामक है। उन्होंने शास्वत आत्मा का निषेध किया है। इस तरह बौद्धोंने आत्मा की अनित्यता को स्वीकारा है। इसके अतिरिक्त उनका यह कहना है कि जीव के भीतर कोई भी वस्तु नहीं है, जिसको हम आत्मा कह सकें। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-इन पाँचों का संघात हमारा जीवन (शरीर) है। पंच स्कंधों के इस समूह को अनित्य कहा गया है, क्योंकि प्रत्येक स्कन्ध अनित्य है।

अनात्मवाद को मानते हुए भी बौद्ध विचारकों के मत से कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धांत वास्तविक है। बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या दीपक की ज्योति के सहारे की है। जिस तरह एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी तरह हमारे विज्ञान एवं हमारे कर्मफल एक जीवन से दूसरे जीवन में पहुँचते हैं। इस तरह बुद्ध की यह खूबी रही कि उन्होंने आत्मा की नित्यता निषेध करके भी पुनर्जन्म की व्याख्या की है। डॉ.राधाकृष्णन बुद्ध को वस्तुत: अनात्मवादी नहीं मानते। बुद्ध के विषय में यह सोचना भी कि बुद्ध आत्मा को बिलकुल ही नहीं मानते, एक असत्य धारणा है।[222] परन्तु यह भी सत्य है कि बौद्ध दर्शन में बुद्ध के बाद अनात्मवाद को बहुत बल मिला है।

शून्यवाद बौद्ध दर्शन के 'माध्यमिक सम्प्रदाय' और विज्ञानवाद 'योगाचार सम्प्रदाय' का प्रमुख सिद्धांत है। योगाचार के अनुसार बाह्य जगत की सिद्धि नहीं हो सकती, अत: उसकी सत्ता नहीं है, पर आंतरिक जगत् (चित्त) की सत्ता अवश्य है। इनका यह सिद्धांत 'विज्ञानवाद' कहा गया। माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य जगत की सत्ता तो है ही नहीं, आन्तरिक जगत् (चित्त) की भी सत्ता नहीं है। यह सिद्धांत 'शून्यवाद' के नाम से पहचाना गया। माध्यमिक दर्शन में शून्य ही परम तत्त्व है, जैसा कि अद्वैत दर्शन में ब्रह्म इस परम तत्त्व को माध्यमिक इतना महत्त्व देते हैं कि इसे ही तथागत अर्थात् बुद्ध कहते हैं। इसे निर्वाण भी कहा गया है। निर्वाण बौद्ध दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार है, उसे मोक्ष भी कहा जाता है। निर्वाण का सामान्य अर्थ दु:खों से मुक्ति है। बुद्ध की दृष्टि से निर्वाण कहते हैं बुझ जाने को। यहाँ बुझ जाने का मतलब समस्त पाप कर्मों का समाप्त हो जाना, अविद्या का नष्ट हो जाना अर्थात् तृष्णा की अग्नि बुझ जाना है। निर्वाण जीवितावस्था में ही सम्भव है। इससे यह

222 डॉ.राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-1, पृ.313

स्पष्ट होता है कि निर्वाण के लिये शरीर का समाप्त हो जाना जरूरी नहीं है। स्वयं बुद्ध ने अपनी जीवितावस्था में निर्वाण की प्राप्ति की थी। निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति अपने सब काम निष्काम भाव से करता है। निर्वाण वस्तुत: नि:श्रेयस्, मुक्ति, अमृत, परमानन्द और परम शांति की अवस्था है। यह वर्णनातीत है। यह तर्क और प्रमाण से रहित अलौकिकावस्था है। महाज्ञानी बौद्धों ने निर्वाण को 'शिव' तथा 'आनन्द' रूप कहा है। स्वयं बुद्ध ने इसे 'अमृत पद' कहा है।

1.3.2.3 जैन दर्शन :

जैन दर्शन का स्थान भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण रहा है। इस दर्शन के साथ महावीर स्वामी का नाम मुख्यतया जुड़ा है। महावीर स्वामी बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध के समान महावीर स्वामी जैन दर्शन एवं धर्म के संस्थापक तो नहीं थे, परन्तु जैन धर्म का प्रचार-प्रसार, संवर्धन और सुधार का श्रेय महावीर को ही प्राप्त हुआ है। महावीर स्वामी जैन धर्म के 24 वें तीर्थंकर थे, जो किसी युद्ध में विजयी होने के कारण महावीर नहीं कहलाये। इस संदर्भ में डॉ.राधाकृष्णन का मंतव्य है-''उनको जीन अर्थात् विजेता कहा जाता है, किन्तु वे सांसारिक युद्ध में अपना पराक्रम दिखाने वाले वीर नहीं थे, वरन् आंतरिक जीवन के द्वन्द्व में वीरता दिखाने वाले महावीर थे।''[223] जैन मत के संस्थापक के सिलसिले में चौबीस तीर्थंकरो की एक लम्बी परम्परा का वर्णन किया जाता है। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे, अन्य तीर्थंकरों के के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। महावीर स्वामी ने ही जैन धर्म को पुष्पित-पल्लवित किया। जैन मत मुख्यत: महावीर के उपदेशों पर ही आधारित है। तीर्थंकर उन व्यक्तियों को कहा जाता है, जो मुक्त हैं। जैनों ने तीर्थंकर को आदरणीय पुरुष कहा है। इनके बताये हुए मार्ग पर चलकर मानव बन्धन से मुक्त हो सकता है।

महावीर स्वामी के बाद जैन धर्म के क्षेत्र में भी सैद्धांतिक मतभेदों के कारण प्रमुख दो दल बन गये थे-श्वेताम्बर और दिगम्बर। जैन साहित्य का एक विशाल भण्डार है। यद्यपि महावीर स्वामी ने कुछ नहीं लिखा किन्तु उनके उपदेशों को उनके अनुयायियों ने संकलित किया जो जैन धर्म और दर्शन की नींव है। इन्हें आगम ग्रन्थ कहा जाता है। इसमें अनेक अंग और उपांग आदि आते हैं। अंगों में 'आचारांग' जैन धर्म के आचारों का तथा इन आचारों को पुष्ट करने वाले दर्शन का संकलन है। जैनियों के लिए ये ग्रन्थ वेद के समान हैं। इनके अतिरिक्त भी जैन दर्शन का विशाल साहित्य है। जैन विचारक लम्बे समय तक जैन साहित्य

223 डॉ.एस.राधाकृष्णन : हमारी संस्कृति, पृ.86

को समृद्ध करते रहे हैं। प्राचीन साहित्य में आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र तथा कुंदकुंद आचार्य का नियमसार, समयसार, प्रवचनसार तथा समंतभद्र का आप्तमीमांसा प्रसिद्ध है। मध्ययुग में सिद्धसेन, दिवाकर, हरिभद्र, भट्ट अकलंक, विद्यानन्द, वादिराजसूरि तथा अवान्तर युग में देवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेणसूरि, गुणरत्न, यशोविजय आदि जैन दार्शनिकों का अत्यधिक महत्त्व रहा है।

जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा अनेकान्तवादी अर्थात् बहुतत्त्ववादी है। जैनों ने विश्व के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक स्वरूपों का विचार कर सात प्रकार के मूल तत्त्वों को स्वीकारा है। इन्हीं तत्त्वों से जगत् की समस्त वस्तुओं का परिणाम होता है। ये तत्त्व-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष हैं। इनमें जीव और अजीव इन दोनों तत्त्वों को 'द्रव्य' भी कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार 'जीव' तत्त्व सारे जगत् में समाया हुआ है। चैतन्य-युक्त होना जीव तत्त्व की विशिष्टता है। जैनों के मत में दूसरा तत्त्व है-'अजीव'। उसके पाँच भेद हैं-धर्म, अधर्म, आकाश, तथा पुद्‌गल। ये चारों अस्तिकाय कहलाते हैं। पाँचवा अजीव तत्त्व है काल। यह अनस्तिकाय कहलाता है। ये सभी द्रव्य हैं। स्वभावतः इनका नाश नहीं होता। जैन दर्शन में पुद्‌गल जगत् का मूल कारक है। पुद्‌गल अर्थात् प्रकृति, प्रधान या जड़ परमाणु। पुद्‌गल के चार गुण माने गये हैं-स्पर्श, स्वाद, गंध, और रंग।

जैन दार्शनिकों ने मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना है। मोक्ष को कैवल्य माना गया है। मोक्ष बन्धन का प्रतिलोम है। जैनों के मतानुसार बन्धन का अर्थ जीवों को दुःखों का सामना करना तथा जन्म-जन्मांतर तक भटकना कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जीव को दुःखों की अनुभूति होती है तथा उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है। उसके मतानुसार बन्धन का मूल कारण क्रोध, मान, लोभ, और माया है। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही सम्भव है। इसलिए जैन दर्शन में मोक्ष के लिए सम्यक् ज्ञान को आवश्यक माना गया है। मोक्ष-प्राप्ति के हेतु जैन दार्शनिकों ने त्रिरत्न एवं पंचमहाव्रत का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। मोक्ष-प्राप्ति में आवश्यक भूमिका निभाने वाले तीन रत्न हैं-(1) सम्यक् दर्शन (2) सम्यक् ज्ञान, (3) सम्यक् चरित्र।[224] इन तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता है। इसके अतिरिक्त जिनके पालन के बिना जीव कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता वे हैं-पंच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जैन दर्शन के दस धर्म हैं-क्षमा, मार्दव (कोमलता), आर्जव (सरलता), सत्य, शौच (शरीर और आत्मा की शुद्धि), तप, त्याग, आकिंचन्य (किसी पदार्थ में ममता न रखना) और ब्रह्मचर्य। स्पष्ट है कि जैन धर्म में त्रिरत्न, पंचमहाव्रत

224 श्रीमन्मध्वाचार्य विरचितः सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ.61

एवं दस धर्मों के पालन से जीव के बन्धन का नाश हो जाता है; उसके सारे दुःख समाप्त हो जाते हैं तथा उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता एवं जीव कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति करता है।

जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। यह ज्ञान दो प्रकार का है-प्रत्यक्ष और परोक्ष। यहाँ आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा आत्मेतर इन्द्रिय-मन-सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। इस दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के तीन प्रकार माने गये हैं-अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। जबकि परोक्ष प्रमाण के दो प्रकार हैं-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि जैन दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम-इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष की सत्ता सर्वमान्य है। जैन दार्शनिकों ने बड़ी प्रबल युक्तियों के आधार पर लोक व्यवहार के लिए अनुमान की प्रामाणिकता मानी है। जैन आगम से प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूल भित्ति है, पर जैन लोग ब्राह्मण शास्त्र, श्रुति तथा स्मृति की प्रामाणिकता को अनेक दोषों के विद्यमान होने से मानने के लिए तैयार नहीं है।[225] जैन दर्शन में तत्त्वज्ञान के लिए नय, निक्षेप और प्रमाण को आधार माना है। नय और प्रमाण तत्त्वतः अभिन्न है, क्योंकि इन दोनों के द्वारा ही किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। जैन दर्शन में नय के सात भेद या प्रकार बताये गये हैं। जिसमें सात भंग (वाक्य) हों। अतः 'सप्तभंगी नय' से प्रचलित है। सारे संसार के चेतन और अचेतन, दोनों प्रकार की वस्तुओं का सम्यक् निर्णय 'नय' द्वारा ही स्वीकार किया गया है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्त्वों का ज्ञान, प्रमाण तथा नय द्वारा होता है। 'सप्तभंगी नय' सिद्धांत द्वारा जैन दार्शनिक वस्तुतः स्याद्वाद को ही अधिक विस्तृत करते हैं। यह सिद्धांत स्याद्वाद का पूरक सिद्धांत है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है। इसके अनुसार द्रव्य के स्वरूप का निर्धारण किसी एक दृष्टि से नहीं किया जा सकता, लेकिन अनेक दृष्टि से किया जाता है। जैन दर्शन द्रव्य के प्रति अनेकान्त दृष्टि इसलिए रखने को कहता है क्योंकि उसके अनुसार द्रव्य अनन्त धर्मों से युक्त होता है। कई बार स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कह दिया जाता है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि अनेकान्तवाद जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा से जुड़ा हुआ है, जबकि स्याद्वाद ज्ञानमीमांसा से जुड़ा हुआ है। जैन दर्शन ईश्वरवाद का खण्डन करता है। ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा असंभव है। जैनियों का (परम-आत्मा) या जिनेश्वर ही ईश्वर है। तीर्थंकर भी उसके लिए परमात्मा के रूप हैं। इस दृष्टि से वे उनकी पूजा करते हैं। जैन दर्शन मानता है कि ईश्वर तत्त्व उन सब मुक्तात्माओं में हैं, जिन्होंने स्वयं अपने प्रयत्न से मुक्ति

225 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.101

की प्राप्ति की है। ये मुक्तात्माएँ तीर्थंकर होती हैं, जो संसार सागर से पार उतरने का तीर्थ (साधन) अन्य जीवात्माओं के समक्ष प्रस्तुत करती है।

जैन दर्शन इस जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करता है, अत: वह दार्शनिक बहुत्ववाद के समर्थक के रूप में हमारे सामने आता है। अनेकान्तवाद इस दर्शन की मानवीय तथा बहुमूल्य देन मानी जाती है। जैनों की आचारमीमांसा एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस दर्शन में प्रस्थापित अहिंसा विषयक सिद्धांत सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ होने के बावजूद कठोर दिखते हैं। प्रमाण शास्त्र के क्षेत्र में जैनों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जिसका उदाहरण स्याद्‌वाद है। यह स्याद्‌वाद अन्य धर्मों को समान दृष्टि से देखने की सीख देता है।

1.4 भारतीय दर्शन की विशेषताएँ :

भारतीय दर्शनों की चर्चा करते समय हमनें उन्हें सामान्यतया आस्तिक और नास्तिक वर्गों में रखा है। वेद को प्रामाणिक मानने वाले दर्शन को 'आस्तिक' तथा वेद को अप्रमाणिक मानने वाले दर्शन को 'नास्तिक' कहा जाता है। संख्य,योग,न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत को 'आस्तिक दर्शन' में समाविष्ट किया गया है। इनके विपरित चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनों को 'नास्तिक दर्शन' के वर्ग में रखा जाता है। इन दर्शनों में अत्यधिक मात्रा में भिन्नता है, किन्तु मतभेदों के बाद भी इन दर्शनों में साम्यता भी है।

कुछ सिद्धांतों की प्रामाणिकता प्रत्येक दर्शन में उपलब्ध है। इस साम्य का कारण प्रत्येक दर्शन का विकास एक ही भूमि भारत में हुआ कहा जा सकता है। एक ही देश में पनपने के कारण इन दर्शनों पर भारतीय प्रतिभा, निष्ठा और संस्कृति की छाप अमिट रूप से अंकित हुई है। इस प्रकार भारत के विभिन्न दर्शनों में जो साम्य दिखाई पड़ते हैं, उन्हें 'भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषताएँ' कहा जाता है। ये विशेषताएँ भारतीय विचारधारा के स्वरूप को पूर्णत: प्रकाशित करने में समर्थ हैं। अत: इन विशेषताओं का भारतीय दर्शन में अत्यधिक महत्त्व है। भारतीय दर्शन की एक आकर्षक विशेषता है उसका विचार-प्राचुर्य और वैविध्य। चिन्तन का प्राय: कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसे उसने न छुआ हो। आधुनिक आलोचक इस बात की प्राय: उपेक्षा कर देते हैं और समूचे भारतीय दर्शन को 'निषेधवादी' और 'निराशावादी' करार देते हैं।[226]

यदि इस बात में सच्चाई हो फिर भी सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को इस रूप में देखना अनुचित है। भारतीय दर्शनों को वैश्विक स्वीकृति अपने बलबूते पर मिली है। भारतीय दर्शन की कुछ विशेषताएँ निम्नांकित है-

226 एम.हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.12

1.4.1 भारतीय दर्शन का आध्यात्मिक स्वरूप :

भारतीय दर्शन के तत्त्वज्ञान का सारभूत तत्त्व इसका अध्यात्मवाद है। अधिकांश भारतीय दार्शनिक नीति, धर्म और सदाचार से भी परे जाने का ध्येय रखते हैं। मनुष्य ईश्वर का अंश है और वह ईश्वर का पूर्ण अंश बनने की इच्छा रखता है। भारतीय दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं जो शरीर से पृथक् हैं, अजरामर है। मनुष्यमात्र अपने वास्तविक 'मैं' को पहचानकर-आत्मा को जानकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। भारतीय दर्शन मनुष्य को उसके वास्तविक रूप की पहचान कराकर मानुषी देह के साफल्य पर बल देता है। वेदांत दर्शन तो आत्मा को ही ब्रह्म मानकर चला है। मनुष्य को यह पहचान करायी गई है कि वह मरणधर्मा प्राणी नहीं है, परन्तु वह अमृत पुत्र है, परमात्मा का ही अंश है, उसी का एक रूप है, अथवा वही है।

प्रो.हिरियन्ना कहते हैं-'भारतीय दर्शन का लक्ष्य नीति से परे पहुँचना भी उतना ही है जितना तर्क से परे पहुँचना।' भारतीय विचारधारा का स्वरूप-परिस्वरूप जिसने उसकी समग्र संस्कृति को ओत-प्रोत कर रखा है और जिसने इसके समस्त चिंतकों को एक विशेष प्रकार का ढाँचा प्रदान किया है, इस दर्शन की आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक अनुभव भारत के सम्पन्न सांस्कृतिक धरोहर का आधार स्तम्भ है। यह सत्य है कि भारतीय जीवन में आध्यात्मिक प्रयोजन का स्थान सदा ही सर्वोपरि रहता है। भारतीय दर्शन की अभिरुचि मानव समाज में है किसी काल्पनिक एकांत में नहीं। इसका प्रादुर्भाव जीवन से होता है। विभिन्न शाखाओं, सम्प्रदायों से होकर पुनः जीवन में ही प्रवेश करता है।[227]

प्रत्येक भारतीय व भारतीय संस्कृति के लिए दर्शन की अहम भूमिका रही है। अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह मानवजीवन के साथ अभिन्न रूप में जुड़ गया है।

1.4.2 भारतीय दर्शन जीवन के नज़दीक :

भारतीय दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन से पुथक् दर्शन की कल्पना करना ही असंभव है। जैसे कि उपनिषद्, गीता आदि जनमानस से दूर नहीं है। भारतीय दर्शन जन-जीवन का दर्शन है। जीवन और दर्शन एक ही उद्देश्य के दो परिणाम है। दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है; परमश्रेय (निःश्रेयस) की खोज करना । इसका सैद्धांतिक रूप दर्शन और व्यावहारिक रूप जीवन हो सकता है। प्रत्येक भारतीय को विरासत में दार्शनिकता मिली हुई है, वह अपने जीवनानुभवों में उसका यथोचित प्रयोग कर जीवन को रमणीय बना सकता है। यहाँ एक बात खास ध्यातव्य है-दर्शन न सिर्फ विचारधारा है, बल्कि वह एक जीवनपथ है।

---

227 जयदेव वेदालंकार : भारतीय दर्शन, पृ.2-3

जिस तरह से बौद्धदर्शन और जैनदर्शन दोनों आचरण शुद्धि पर विशेष जोर देता है। उसने जीवन के परम सत्यों और नियमों का समाकलन कर मानवजीवन को व्यावहारिक बनाया है।

भारत में दर्शन का जीवन से गहरा सम्बन्ध रहता है। दर्शन का उद्देश्य सिर्फ मानसिक कौतूहल की निवृत्ति नहीं है, बल्कि जीवन की समस्याओं को सुलझाना है। इस प्रकार भारत में दर्शन को जीवन का अभिन्न अंग कहा गया है। जीवन से अलग दर्शन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। मूलतः दर्शन जीवनोन्मुख एवं व्यवहारपरक है। वेदों के मंत्र द्वारा उपनिषदों के उद्‌गाता, षड्दर्शनों के प्रणेता एवं बौद्ध-जैन-चार्वाक दर्शनों के प्रवक्ताओं ने दर्शन को जीवन-विज्ञान ही माना है। रामजी सिंह के अनुसार- 'मुझे लगता है कि दर्शन का सार-सर्वस्व जीवन-दर्शन ही है, चाहे वह उपनिषद् की भाषा में आत्म-साक्षात्कार हो या दर्शन-तन्त्र की भाषा में मोक्ष या गीता की भाषा में स्थितप्रज्ञता। वस्तुतः जीवन दर्शन की ही साधना है।'[228]

सच तो यह है कि मानवजीवन और दर्शन एक सिक्के के दो पहलू हैं। दर्शन से ही उसका जीवन शोभायित है।

1.4.3 आध्यात्मिक असंतोष :

भारतीय दार्शनिकों ने संसार को दुःखमय माना है। दर्शन का विकास ही भारत में आध्यात्मिक असंतोष के कारण हुआ है। रोग, मृत्यु, बुढ़ापा, ऋण आदि दुःखों के फलस्वरूप मानव-मन में सर्वदा अशांति का निवास रहता है। बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य विश्व को दुःखात्मक बताता है। उनके इस प्रथम आर्य सत्य से सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, शंकर, रामानुज, जैन आदि सभी सहमत है। सांख्य ने विश्व को दुःख का सागर कहा है। विश्व में तीन प्रकार के दुःख हैं-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। भारतीय दार्शनिकों ने विश्व की सुखात्मक अनुभूति को भी दुःखात्मक कहा है। उपनिषद् और गीता जैसे दार्शनिक ग्रन्थों में विश्व की अपूर्णता की ओर संकेत किया गया है। इसप्रकार प्रत्येक दार्शनिक ने संसार का कलेशमय चित्र उपस्थित किया है। भारतीय विचारकों ने यह कतई नहीं माना कि संसार ही अंतिम सत्य है या जीवन में उपभोग ही सर्वस्व है। उन्होंने तमस से प्रकाश की ओर जाने की उम्मीद हरकदम बनाये रखी। जीवन के आकर्षणों से मुक्त होकर उसने बाह्य, आंतरिक और तत्पश्चात् ऊर्ध्व दृष्टि आत्मसात कर सुखपूर्ण जीवन को साकारित किया। यह कहें कि आध्यात्मिक असंतोष का परिणाम ही दर्शन है।

---

228 रामजी सिंह : भारतीय दर्शन और धर्म, पृ.2

1.4.4 दर्शन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति तथा उसका साधन-मार्ग :

भारत के दार्शनिकों ने चार पुरुषार्थ माने हैं। वे हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। फिर भी चरम पुरुषार्थ मोक्ष को माना गया है। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना है। यहाँ मोक्ष की अत्यधिक प्रधानता रहने के कारण इसे मोक्ष-दर्शन कहा जाता है। मोक्ष का अर्थ दु:ख विनाश होता है । सभी दर्शनों में मोक्ष का यह सामान्य विचार माना गया है। भारतीय दार्शनिक मोक्ष के लिए सिर्फ स्वरूप की ही चर्चा नहीं करते, परन्तु मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका मूल कारण यह है कि दर्शन का उद्देश्य मोक्ष है। दर्शन का अध्ययन ज्ञान के लिए न होकर मोक्ष के लिए किया जाता है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। जैन दर्शन में मोक्ष का अर्थ आत्मा का अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष को दु:ख की उच्छेद की अवस्था कहा गया है। सांख्य के अनुसार मोक्ष का अर्थ तीन प्रकार के दु:खों से छुटकारा पाना है। मीमांसा दर्शन में मोक्ष को सुख-दु:ख से परे की अवस्था कहा गया है। अद्वैत वेदांत दर्शन में मोक्ष का अर्थ आत्मा का ब्रह्म में विलिन हो जाना है। विशिष्टाद्वैत वेदांत के अनुसार मुक्ति का अर्थ ब्रह्म से मिलकर तदाकार हो जाना नहीं है, बल्कि ब्रह्म से सादृश्य प्राप्त करना है। वस्तुत: मोक्ष दु:खाभाव की अवस्था है। भारतीय दर्शन न केवल इस जन्म में आने वाले मृत्यु से मुक्ति देता है, वरन् अगले जन्म में होने वाली मृत्युओं से और इस तरह सम्पूर्ण जन्म-मरण के चक्र से ही मुक्ति का आश्वासन देता है। इसे ही मोक्ष कहा गया है। भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिंतन सविशेष व्याख्यायित हुआ है। ज्यादातर दर्शन मोक्ष की प्राप्ति से मानुषी जन्म सफल करवाते हैं। भारतीय दर्शनों का जीवनमन्त्र है- *'सा विद्या या विमुक्तये'।* सांसारिक दु:खों से मुक्त होना ही सत्य ज्ञान है।

हिरियन्ना कहते हैं-'सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा में दो सामान्य बाते हैं-मोक्ष के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण और उसके लिए जो साधना बताई गई है उसमें व्याप्त वैराग्य भावना। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि भारतीयों के लिए दर्शन न तो मात्र बौद्धिक चिंतन है और न मात्र नैतिकता, बल्कि वह चीज है जो इन दोनों को अपने अन्दर समाविष्ट भी करती है और इनसे ऊपर भी है।'[229] कहा जाता है कि मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कठिन है, पर असंभव नहीं है। साधना के पथ पर त्याग, वितराग और संन्यास की भावना नींव रूप में निहित है। त्याग का सच्चा अर्थ है-कर्मफल का त्याग और वैराग्य का लक्षण है इन्द्रियों का निग्रह। गीता में अर्जुन को वही अभ्यास और वैराग्य की सीख दी गई है। पातंजल योग का

229 एम.हिरियन्ना : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.21

अष्टांग मार्ग भी कैवल्य प्राप्ति की साधना है। ज्ञान प्राप्ति द्वारा जीवन का रूपान्तरण यह साधना का विषय है। यह अभ्यास विधेयात्मक है, निषेधात्मक नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के इस महायज्ञ में शरीर, मन, बुद्धि आदि सभी अंगों को सक्षम बनाने की बात कही गई है।

1.4.5 भारतीय दर्शन मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित :

भारतीय दर्शन मनोविज्ञान के सत्यों पर आधारित है, इस बात की पुष्टि बलदेव उपाध्याय करते हैं-'मनोवैज्ञानिक आधार के ऊपर ही तत्त्वज्ञान का विशाल दुर्ग खड़ा किया जाता है। मनोविज्ञान बतलाता है कि अवस्थाएँ तीन होती हैं-जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। तथा इन्हीं का आश्रय लेने से चैतन्य भी तीन प्रकार का होता है। पाश्चात्य दर्शन जाग्रत अवस्था को ही समझाने में व्यस्त है। जाग्रत दशा की व्याख्या रहने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लूरलीजम) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है। स्वप्नदशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन की जननी है और सुषुप्ति का मार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिजम) का जनक होता है। पाश्चात्य दर्शन इस त्रिवध अनुभव के एक अंशमात्र की व्याख्या करने में संलग्न है, परन्तु भारतीय दर्शन ही इस अनुभव के प्रत्येक अंश को ग्रहण कर उसका यथार्थ निरूपण करने में समर्थ हुआ है।'[230] स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन मनोविज्ञान की तीनों अवस्थाओं-जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति को विस्तार से व्याख्यायित करता है।

आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो हमें लगेगा कि उपनिषदादि में व्यवस्थित रीति से मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित नहीं हुए हैं। फिर भी इतना तो अवश्य है कि उपनिषद् जैसे प्राचीनयुग में भी मनोवैज्ञानिक सम्बन्धित चर्चाएँ अवश्य होती थी। इन्द्रियाँ, मन, चेतना और इनका आपसी सम्बन्ध आदि की चर्चाएँ मिलती है। माण्डूक्योपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था का विवरण मिलता है। तुरीय अवस्था का आज पाश्चात्य विवेचक बड़ी गहराई से अभ्यास कर रहे हैं। बुद्ध, पतंजलि, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने दर्शन के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की अंगूलिनिर्देश किया है। वर्तमान समय में शारीरिक-मानसिक व्याधियों का निराकरण योग के माध्यम से दूर करने के सफलतम प्रयोग हो रहे हैं। यह हमारा भारतीय दर्शन ही है।

1.4.6 भारतीय दर्शन में धर्म और तत्त्वज्ञान का समन्वय :

भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ है, इसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। धर्म का लक्ष्य भी मुक्ति की प्राप्ति है। इसीलिए हम भारतीय दर्शन और धर्म में गहरा

230 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.538

सम्बन्ध देखते हैं। प्राय: सभी धर्मों में दार्शनिक विचार मिलते हैं। हिन्दू धर्म वेद, उपनिषद् और वेदांत-दर्शन से अनुप्राणित है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा है। दोनों के आधार वेद ही हैं। जैसा विचार, वैसा आचार। दर्शन विचारों का प्रतिपादन है और इन्हीं विचारों के अनुसार आचारों की व्यवस्था करना धर्म का काम है। दर्शन 'सिद्धांत' का प्रतिपादक है, तो धर्म 'व्यवहार' का प्रदर्शक है। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म को अपनी इमारत खड़ा करने के लिए दर्शन नींव रखता है।[231] बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रैयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में सदा याद किया जाएगा। याज्ञवल्क्य ने कहा था-''संसार की समस्त वस्तु अपने लिए प्यारी होती, बल्कि आत्मा के लिए। अत: सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है। इसलिए इस आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए।''[232] आत्म-साधन के इन त्रिविध साधनों में केन्द्रभूत उपाय मनन का निरूपण भारतीय दर्शनों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिए दर्शन के साथ भारतीय धर्म का नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भारतीय तत्त्वज्ञान भारतीय धर्मज्ञान के समान उदार तथा व्यापक, विशाल तथा विवेचनात्मक रहा है। भारतीय जनश्रुति का बोझ कभी इसके उन्नति-मार्ग में व्याघातक नहीं रहा है। ऐहिक तथा पारलौकिक तत्त्वों के विश्लेषण कार्य में तार्किक बुद्धि का उपयोग करने में ही दर्शन की दर्शनता है।[233] तत्त्वज्ञान धर्म का बौद्धिक पहलू है। धर्माचरण के बिना तत्त्वज्ञान प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के अभाव में धर्माचरण संकुचित भाव एवं जड़ता प्रकट करता है। हमारे भारतीय विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि कोई भी तत्त्वज्ञान कभी भी धर्म के आश्रय के बिना न तो उद्‌भवित हुआ है और न ही पनप सका है।

जो व्यक्ति धर्म के मार्ग पर अग्रसर होगा वही तत्त्वबोध या सत्य का साक्षात्कार कर पायेगा। न्यायदर्शन तो मुख्य रूप से तर्कशास्त्र ही है। भारतीय तर्कशास्त्र को प्रतिष्ठा दिलाने में दर्शन का महत्त्व का योगदान रहा है। भारतीय दर्शन में धर्म और तत्त्वज्ञान का समन्वय सुचारु ढंग से हुआ है।

231 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय धर्म और दर्शन, पृ.585

232 बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.5

233 आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ.11

1.4.7 बौद्धिक, समन्वयवादी तथा प्रगतिशील दर्शन :

भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि आध्यात्मिक अनुभवों पर विशेष बल देने के बावजूद इसमें बौद्धिक कसौटी एवं विभिन्न सत्यों का उद्‌घाटन बड़ी ही सहजता से किया गया है। सभी दर्शनशास्त्रियों के दर्शन का अध्ययन करें तो पता चलता है कि उन्होंने आत्मविकारों का नाश कर, स्थिर बौद्धिक साक्षात्कार निर्देशित किये हैं। दर्शनशास्त्र समस्त शास्त्रों या विद्याओं का सार, मूल, तत्त्व या संग्राहक है। उसमें ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या या पराविद्या, अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या या अन्त:करणशास्त्र, तर्क या न्याय, आचारशास्त्र या धर्ममीमांसा, सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र आदि सभी विषयों का परिपूर्ण शिक्षण-परीक्षण प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से भारतीय तथा यूरोपीय दर्शनों का सुभग समन्वय भी देखने को मिलता है। यहाँ तर्क, प्रमाण, अध्यात्म और आचारशास्त्र का गहन विश्लेषण मिलता है।

प्रो.केदारनाथ तिवारी के विचार से हम संपूर्ण सहमत हैं- 'इतिहास साक्षी है कि संसार में आज तक जितने भी बड़े-बड़े सामाजिक, राजनीतिक आदि परिवर्तन आये हैं, उनके पीछे गहरे दार्शनिक चिंतन का ही हाथ रहा है। जब तक कोई विचारक विश्व तथा जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित नहीं करता, तब तक कोई बड़ा सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आता। दर्शन विश्व के स्वरूप को परिवर्तन कर देता है, मनुष्य-मनुष्य, मनुष्य-समाज, मनुष्य-विश्व के सम्बन्धों को एक बिलकुल नवीन मोड़ देकर क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देता है।'[234] यहाँ जीवन के प्रत्येक पहलू पर ध्यान दिया गया है। यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ही बात नहीं है; परन्तु समूचे समाज की आध्यात्मिक उन्नति की बात कही गई है। गीता का लोकसंग्रह का भाव, बुद्ध का बोधिसत्व का ज्ञान आगे चलकर स्वामी विवेकानंद, महात्मा गाँधीजी, डॉ.राधाकृष्णन तथा महर्षि अरविंद जैसे युगपुरुष में पनपते दिखाई देते हैं। जड़वाद, अध्यात्मवाद, द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बीच भी भारतीय दर्शन सदैव प्रगतिशील रहा है।

1.4.8 ऋत, कर्म एवं पुनर्जन्म आदि में अटूट श्रद्धा :

भारतीय दार्शनिकों की 'ऋत', कर्म एवं पुनर्जन्म आदि में अटूट श्रद्धा दिखाई देती है। वेदों में हमें 'ऋत'का वर्णन मिलता है। 'ऋत' इस जगत् में पायी जाने वाली नैतिक व्यवस्था का नाम है। जगत् में सबसे पहले 'ऋत' ही उत्पन्न हुआ, सत्य की उत्पत्ति उसके बाद में

---

234 प्रो.केदारनाथ तिवारी : तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा, पृ.13

हुई।[235] ऋत्त का स्वामी वरुणदेव है। 'ऋत' शब्द का मूल अर्थ है-निसर्ग की एकरूपता अथवा विश्वतन्त्र का सुव्यवस्थित क्रम। आगे चलकर उसका अर्थ 'नीतिनियम की व्यवस्था' प्रचलित हुआ। 'ऋत' में न सिर्फ सत्य का अर्थ है, बल्कि अटल नियम (Law Order) के मुताबिक व्यवहार करने वाला; अत: सत्य ऐसा अर्थ सूचित होता है। नियम का उल्लंघन करना अर्थात् गलत-ऐसे अटल नियम में भारतीय दर्शन की संपूर्ण श्रद्धा है।

भारतीय विचारधारा प्रारम्भ से ही कर्मवाद की प्रबल समर्थक रही है। भारतीय दर्शन का कर्मफल का सिद्धांत न केवल इस जीवन को, वरन् मुत्यु के बाद भी जीव को भी सँवारने का सन्देश देता है। यह सिद्धांत कहता है कि कर्मफल मृत्यु के बाद भी जीवात्मा के साथ लगे रहते हैं और अगले जन्म में जीव के सुख-दु:ख का हेतु बनते हैं। इस सिद्धांत के जरिए यह भी प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी दुष्कर्मी बुरे कर्मों से मृत्यु के बाद भी नहीं बचेगा। उसके कर्म अवश्यमेव उसे फल देंगे। यहाँ पुनर्जन्म का सिद्धांत भी स्पष्ट होता है। कर्म के नियम से सब बंधे हुए हैं। कर्म के सिद्धांत के साथ ही पुनर्जन्म का सिद्धांत भी जुड़ा हुआ है। चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक, वैदिक तथा अवैदिक पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तरवाद में विश्वास करते हैं। यहाँ के दार्शनिकों ने माना है कि संसार जन्म और मृत्यु की श्रृंखला है। पुनर्जन्म का विचार कर्मवाद के सिद्धांत तथा आत्मा की अमरता से प्रस्फुटित होता है।

1.4.9 भारतीय दर्शन की व्यापक एवं सर्वग्राही दृष्टि :

भारतीय दर्शन की दृष्टि सदा व्यापक एवं सर्वग्राही रही है। भारतीय ऋषियों की विशाल एवं सर्वग्राही जीवनदृष्टि के कारण भारतीय तत्त्वज्ञान-दर्शन एकांगी होने से बच गया है। संपूर्ण विश्व में सिर्फ भारत ही एक ऐसा देश है कि जहाँ परस्पर विरोधी मत भी एकसाथ पनपते-विकसित होते हैं। यहाँ चार्वाक, बौद्ध, जैन, द्वैत, अद्वैत आदि वाद अपना मत-वैभिन्य बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत कर पाये। भारतीय दर्शन में विभिन्न विषयों की व्याख्या निष्पक्ष ढंग से की गई है। यहाँ युक्तियों का प्रयोग पूर्णरूप से हुआ है। यही कारण है कि शंकर और रामानुज जैसे भाष्यकारों ने श्रुति का विश्लेषण अपने अनुभव के आधार पर किया है, परिणाम स्वरूप वे भिन्न-भिन्न दर्शन सिद्धांत दे पाये हैं। अत: भारतीय दर्शन रूढ़िवादी न होकर आलोचनात्मक है।

आधुनिक भारतीय दर्शन केवल तत्त्व दर्शन है। वह सामाजिक सिद्धांतों, मानवीय मूल्यों, धार्मिक तथ्यों, नैतिक मूल्यों का समन्वय है। दार्शनिक ज्ञान वह पूर्ण ज्ञान है जो

---

235 ऋतं च सत्यं चाभीधातपसोऽध्यजायत। -ऋग्वेद

विभिन्न सिद्धांतों को आत्मसात् और समाहित करता है।[236] भारतीय दर्शन की व्यापकता एवं सर्वग्राही दृष्टि को पाश्चात्य विद्वानों ने भी सराहा है।

1.4.10 भारतीय दर्शन का भविष्य :

भारत में दर्शन तथा धर्म का परस्पर सहयोग जितने सुंदर ढंग से हुआ है, वस्तुत: वह विशेष प्रशंसनीय है। भारतीय दर्शन केवल तत्त्ववेत्ता पुरुषों की कल्पनामात्र न होकर सामान्य मनुष्य की भी एक सोच है। दर्शन का समुचित प्रयोग वह अपने मानवदेह के कल्याण हेतु कर सकता है। भिन्नार्थक रूप में कहें तो दर्शन सामान्य जन के लिए उपादेय व ग्रहणीय है। 'दर्शन' के रूप में इस देश में शास्त्र का जो व्यवहार चल रहा है वह व्यर्थ है, ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए। यद्यपि विचार-तर्क अथवा मनन साक्षात् रूप में हमें 'तत्त्व' के आस-पास भले ही न ले जा पाता हो तथापि वह वहाँ जाने का एक मार्ग अवश्य है, उपलब्धि की भूमि की ओर अग्रसर हो सकने का एक सोपान अवश्य है। इस 'सीढ़ी' पर आरोहण किये बिना कोई भी चरम तक नहीं पहुँच सकता।[237] जिन तत्त्वों का संशोधन पाश्चात्य विद्वान कर चूके हैं या कर रहे हैं, उन ज्यादातर सत्यों का उद्‌घाटन हमारे दार्शनिकों ने क्रमबद्ध रीति से एवं व्यावहारिक ढंग से प्रस्तुत कर दो कदम आगे रहने की कोशिश की है। भारतीय दर्शन की अपनी उद्देश्यपरकता व्यापक रूप में तथा विविध रूप में चरितार्थ होती दिखाई देती है। इसका लोहा पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं। भारतीय दर्शन का भूतकाल तो भव्य था ही, वर्तमान और भविष्य भी गौरवशाली प्रतीत होता है। इस दर्शन की महती विशेषता इसमें दृष्टिगत होती है कि वह अनेकता के भीतर एकत्वभाव को स्थापित करता है।

योग के महत्त्व को वैश्विक फलक पर प्रस्तुत करने का श्रेय भारतीय दार्शनिकों को ही जाता है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रिय योगदिन मनाने का शुभ संकल्प इसी बात का द्योतक है। उन विद्वान मनीषियों ने तो इसका महत्त्व बहुत पहले से समझ लिया था। धर्म-अध्यात्म-ज्ञान-विज्ञान-मनोविज्ञान इन सबका पारस्परिक समन्वय का महत्त्व हमारे एकाधिक दर्शन-ग्रन्थों ने हमें भलीभाँति समझाया है। विज्ञान एवं तकनीकी के प्रयोग एक ओर मानवजाति की सुविधाओं में बढ़ोत्तरी कर रहे हैं; तो दूसरी ओर उसका अविवेकी प्रयोग समूचे मानव-समुदाय के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा है। ऐसे में हम अपने दर्शन ग्रन्थों की ओर आशाभरी निगाहों से दृष्टिपात कर सकते हैं। विश्वशांति के लिए हम अवश्यमेव चाहेंगे कि विज्ञान के साथ अध्यात्म का शिवमय सुभग समन्वय हो !

---

236 सं.डी.आर.भण्डारी : भारतीय दार्शनिक चिन्तन, पृ.89

237 स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती : हिन्दू षड्दर्शन, भूमिका से, पृ.VIII

विद्यमानमपि ज्ञानं ज्ञातं शास्त्रगणान्न यत्।
दुर्बोधं मधुरं तत्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ।।

-योगवासिष्ठ रामायण (6.2.103.41)

नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञान को अनेक शास्त्रों से लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञान को इस ग्रन्थ के अभ्यास से जान जाएंगे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु।
सुखेन बोधदं हृद्यमपूर्वं न तु किंचन ।।

-योगवासिष्ठ रामायण (6.2.103.42)

शास्त्रों में मुख्य आख्यानों में यह सर्वोत्तम है। यह अनायास ज्ञान देने वाला अत्यंत मनोहर एवं अनादि है। इसमें तत्त्ववेत्ताओं के सम्प्रदाय में प्रसिद्ध वस्तु से अतिरिक्त स्व-कपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है।